जैन भारती

अक्टूबर 2014 • वर्ष 62 • अंक 10 • वार्षिक ₹ 200

दीप जले भीतर का

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

B.N. GROUP

स्व. श्री बच्छराजजी-रतनीदेवी नाहटा

की पुण्य स्मृति में

शासनसेवी

बिमल-सुशीला, संदीप-मीता

सलोनी, प्रियंक, सांची नाहटा

सरदारशहर-गुवाहाटी

KAMAKHYA UMANANDA BHAWAN

A.T. ROAD, GUWAHATI 781001 (ASSAM)

जैन भारती

वर्ष 62 • अक्टूबर 2014 • अंक 10

•
संपादक
डॉ. शान्ता जैन

•
आवरण
गौरीशंकर

अनुक्रम

1.	संपादकीय		5
2.	जीवन की सफलता का बीजमंत्र	–आचार्य महाश्रमण	7
3.	दादा-पोता के संबंधों का विकास	–आचार्य महाप्रज्ञ	10
4.	ऋषभायण में राजा की अर्हता	–साध्वी मंगलप्रज्ञा	14
5.	दीपावली एक प्रेरणा	–आचार्य तुलसी	18
6.	भीतर की जोत प्रकटे	–आचार्य महाप्रज्ञ	21
7.	धर्मसंघ की दीर्घजीविता का उपाय	–साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा	25
8.	विराट एवं प्रखर : आचार्यश्री तुलसी	–मंत्रीमुनि सुमेरमल, लाडनूं	27
9.	बदले युग की धारा	–साध्वी सुनन्दाश्री	29
10.	समयज्ञ को प्रणाम	–साध्वी शुभ्रयशा	31
11.	मानव मन के कुशल पारखी	–साध्वी कार्तिकयशा	35
12.	अणुव्रत : नैतिकता का ईश्वरीय संदेश	–साध्वी स्वस्तिकप्रभा	37
13.	संसद में संबोधन	–साध्वी पुष्पप्रभा	39
14.	परम योगी आचार्यश्री तुलसी	–मुनि किशनलाल	41
15.	अप्रतिम व्यक्तित्व को प्रणाम	–साध्वी प्रबुद्धयशा	44
16.	नारी दुर्गा स्वरूपा बने, पर क्यों?	–पद्मचन्द पटावरी	45
17.	संस्कार : परत-दर-परत	–रणजीतसिंह कूमट	48
18.	प्रकृति के बीच चार घंटे	–राधेश्याम अटल	51
19.	अच्छे दिन आते इस तरह के टैक्स लगाने से	–छत्रसिंह बच्छावत (चाड़वास)	54
20.	एक तिनका समन्दर में.....	–मुनि मलयज	56
21.	भीतर का अंधकार मिटे	–हीरालाल छाजेड़	58

संपादकीय संपर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन-महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- • त्रैवार्षिक 500/- • दसवर्षीय 1500/- रुपए
* Contact us at: jainbharatitms@gmail.com

भगवान महावीर को नमन

भगवान महावीर जैन धर्म के विशिष्ट प्रवक्ता थे। उन्होंने जन-जीवन की समस्याओं को समाहित करने के लिए तीन सूत्र दिए–अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत। अहिंसा विश्व-मैत्री की भावना का प्रतीक है। हिंसा से संत्रस्त चेतना अहिंसा के बल पर ही जाग्रत रह सकती है। अहिंसा की भावना का फलित है–अपरिग्रह। शोषण और संग्रह के मनोभावों से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। अहिंसक परिवेश में परिग्रह व्यक्ति द्वारा गृहीत होता है। वह अपनी उपयोगिता और आवश्यकता के लिए परिग्रह स्वीकार करता है। जहां अहिंसा की भावना गौण हो, वहां व्यक्ति परिग्रह द्वारा गृहीत हो जाता है। अहिंसा और अपरिग्रह का सही बोध अनेकांत दृष्टि से होता है। आग्रहजन्य विषम-स्थितियों का निराकरण वही कर सकता है। मेरे अभिमत से अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत को समझने वाला व्यक्ति ही जैन धर्म को समझ सकता है।

जैन धर्म उपासना की अपेक्षा ज्ञान और आचार पर अधिक बल देता है। जो उपासना ज्ञान और आचार के विकास में सहायक हो, उसे साधन रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जहां साधन को ही साध्य मान लिया जाए, वहां विकास में अवरोध पैदा हो जाता है। जैन धर्म के यथार्थ चिंतन को समझकर तदनुरूप आचरण करने से व्यक्ति अपने साध्य तक पहुंच जाता है या वह स्वयं साध्यमय बन जाता है। ऐसा मेरा विश्वास है।

आचार्य तुलसी

रोशनी की तलाश में

दीया संस्कार और संस्कृति का संवाहक है। मानवीय मन का व्याख्या-सूत्र है। बाहरी और भीतरी चेतना का संवाद है। समस्याओं के बीच विवेकी निर्णय का अन्वेषक है।

कद और आकार में भले ही वह छोटा दीखता हो मगर उसके उद्देश्य और उम्मीदें बहुत विशाल हैं। वह रातभर जलता है, यह उसकी दृढ़ संकल्प शक्ति का प्रतीक है। धैर्य की साधना है। संघर्षों को सहने की सहकारिता है। कभी न झुकने, न थमने और न बुझने का आत्मविश्वास है। सफलता का संकल्प है। दीए का यह संबोध है कि हम भी दीया बनकर जलें।

दीया नियति और पुरुषार्थ की समन्विति का प्रतीक है। जीवन की कर्मभूमि में यदि नियति को मानकर बैठ जाए तो मनुष्य अकर्मण्य, निराशावादी, निष्क्रिय बनकर रह जाएगा। बिना पुरुषार्थ नियति बन्ध्या है। दीए तले अंधेरे का होना उसकी नियति है पर वह पुरुषार्थ की जागती जोत है, प्रतिक्षण अंधेरों को पीता है, इसलिए आदमी भी नियति के हाथों सबकुछ छोड़कर पुरुषार्थहीन न बने। दीए से दिशा और दर्शन ले। पुरुषार्थ से भाग्य और नियति को परिणामी बनाए।

दीया समानता का संदेश है आदमी के नाम। यह बिना किसी व्यक्ति, धर्म, जाति, वर्ग, लिंग, रूप, योग्यता के सभी को समान उजाला बांटता है। आदमी भी सीख ले। समानता, सह-अस्तित्व, भाईचारे का आदर्श प्रस्तुत करे।

दीया निःस्वार्थ चेतना की प्रेरणा है, क्योंकि रातभर जलने में उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं। कुछ पाने का लोभ नहीं। वह तो सिर्फ इसलिए जलता है कि सूरज के आने तक आदमी कहीं प्रकाश पाने का विश्वास न खो बैठे। इसलिए तूफानी-बरसाती रातों में भी संघर्षों को झेलता हुआ वह सूरज की अगवानी में जागता है आदमी को यह समझाने हेतु कि उजालों को सिर्फ अपने घर तक कैद करने की आकांक्षा मत पालो। इस पर सबका हक है।

दीया अकेले होने का एहसास देता है। बिना अकेले निर्माण संभव नहीं, क्योंकि भीड़ में सत्य नहीं, झूठे मिथक मिलते हैं। भीड़ सिर्फ गड्डरिका-प्रवाह है, परतंत्रता है, उतावलापन है, निरुद्देश्य चलना है, इसलिए जो भीड़ में नहीं मिलता वह अकेले में आदमी पा लेता है। यह सच है कि हम जब भी अकेले होते हैं तभी अपने से मिलते हैं और यही क्षण 'स्वदर्शन' का होता है।

दीया मौन आमंत्रण है सृजनशील गति का। इसे अपने कर्तृत्व का अहं नहीं और न ही लघु एवं अकेले होने का अफसोस। जो व्यक्ति कार्य की प्रस्तुति कम, प्रशंसा ज्यादा करता है उसकी आदत बदलने का एक सक्षम प्रयोग है–दीया। यह जागरण का विश्वास है। सोया आदमी सपने

देख सकता है मगर सच नहीं पा सकता, इसलिए दीया कहता है–जागो मगर जागकर फिर सोने के लिए नहीं। दीये की तरह प्रकाश प्रहरी बनो ताकि कहीं से भी कोई बुराई भीतर प्रवेश न कर सके।

'दीए तले अंधेरा' की कहावत मनुष्य-जीवन के दोहरेपन पर एक करारा व्यंग्य है। देखने, सुनने, कहने और करने में आज आदमी में कितना फर्क आ गया है? हर सुबह आंखें पढ़ती हैं अखबारों पर नैतिक-मूल्यों के संरक्षक नेतृत्व के काले कारनामे। धर्मप्रधान देश का नेतृत्व जो जीवन-मूल्यों के योगक्षेम का हिमायती माना जाता है, यदि वही आदर्शों को ताक पर रखकर अदालत के कठघरे में आ खड़ा हो जाए तो फिर हम किस पर विश्वास करें? बदलते चरित्र के इन चेहरों पर आदर में हमारी आंखें उठें या नफरत में अंगुलि-निर्देश?

कितना जमाना बदल गया। कितने बदल गए जिंदगी के अच्छे-बुरे चरित्र के मानक! अंधेरों में पाप पलते हैं, उजालों में सच्चरित्रता का खिताब लिये घूमते हैं। आखिर इस दीए तले अंधेरे को कौन कैसे मिटा पाए? कथनी और करनी की समानता कैसे आ पाए?

आज भी प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा है हमारे सामने कि राजमहलों से झोंपड़ी तक दीपों की कतारें जगमगा रही हैं फिर भी अंधियारों का यह शोर कैसा? क्या दीया हमसे यह नहीं पूछ रहा है कि आकांक्षा छत पर चढ़ने की है तो फिर हम सीढ़ी के निचले पायदानों पर क्यों खड़े हैं?

दीवाली के दिन हर घर की देहरी और मुंडेरों पर दीए जलते हैं। भले आधुनिक युग में माटी के दीयों की संख्या कम हो पर इलेक्ट्रिक प्रकाश की चकाचौंध में भी दीए की निर्मलता, निःस्वार्थता, निष्पक्षता, निर्दोषता मनुष्य को विधायक जीवन जीने की सीख देती है।

सच तो यह है कि दीया स्वयं में न माटी है, न बाती और न तेल। ये सब व्यर्थ हैं बिना ज्योति के। हम इसी ज्योति के पुजारी हैं। यह बाहर से भी और भीतर से भी हमें ज्योतिर्मय करता है। बस! इसे छूकर एहसास करने की हिम्मत चाहिए, क्योंकि आग जलाती ही नहीं, प्रकाश भी देती है।

अंतहीन समस्याओं के बीच खड़ा आदमी रोशनी की तलाश में है। आज वह भयाक्रांत है आशंका, अविश्वास, अनास्था, अन्याय, आतंक, अभाव के अंधेरों की त्रासदी से। यह अंधेरा आदमी के संकल्प को, पुरुषार्थ को और गति को थामता है मगर उजाले तक पहुंचने का उसका आत्मविश्वास ही उसे दीए तक ले जाता है। एक दीया अनगिनत दीयों को बिना बुझे जला देता है। दीये से दीया जले, यही संस्कृति हमारे लिए जीवन का बोध-पाठ है।

और इसी संस्कृति के प्रतिष्ठापक बने–भगवान महावीर। दीवाली के दिन जिनके निर्वाण की जोत जली। उनके भीतर भी अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त पुरुषार्थ का दीप जला था। उन्होंने ही प्रेरणा दी कि तुम भी दीया बनकर जलो। ऐसा दीया जिसमें न निराशा का धुआं हो, न अविश्वास की बाती हो, और न पुरुषार्थहीनता का तेल।

दीपावली के दिन हम घर की ऊंची मीनारों पर दीयों की जगमगाती कतारें खड़ी करें या न करें मगर एक दीया ईमान का अवश्य अपने भीतर जला दें ताकि प्रकाश के पर्व को सार्थक प्रणाम कर सकें।

–डॉ. शान्ता जैन

जीवन की सफलता का बीजमंत्र

आचार्य महाश्रमण

मनुष्य दुनिया का एक सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसके पास पांच इंद्रियां हैं। वह आंख से देखता है; नाक से सूंघता है; कान से सुनता है; जिह्वा से चखता है और त्वचा से स्पर्श करता है। इनके अतिरिक्त उसके पास एक मन है जो इंद्रियों द्वारा गृहीत वस्तुओं पर चिंतन-मनन कर सकता है। पांचों इंद्रियों में यों तो हर इंद्रिय की अपनी उपयोगिता है, पर चक्षुरिंद्रिय का मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक महत्त्व है और सर्वाधिक उपयोग है। कहा भी जाता है कि जिसके पास आंखें नहीं होती हैं, उसके लिए संसार सूना हो जाता है। जिन व्यक्तियों के पास आंखें नहीं होती हैं उन्हें बोलचाल की भाषा में अंधा कहा जाता है और परिष्कृत भाषा में सूरदास या प्रज्ञाचक्षु कहा जाता है।

आंख का उपयोग

आंख होना एक बात है और उसका उपयोग करना दूसरी बात है। जिनके पास आंखें नहीं हैं उनके लिए उपयोग अनुपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। जो चक्षुष्मान हैं, जिनमें देखने की सामर्थ्य है, उनके लिए विचारणीय है कि वे आंखों का सम्यक उपयोग करते हैं या दुरुपयोग करते हैं। एक व्यक्ति संतों के दर्शन करता है, अच्छा साहित्य पढ़ता है, धार्मिक पुस्तकें पढ़ता है, अच्छे दृश्यों का अवलोकन करता है, अनिमेष प्रेक्षा करता है–यह आंखों का सदुपयोग है। आंखों का दुरुपयोग भी हो सकता है। एक व्यक्ति आंखों से किसी को बुरी दृष्टि से देखता है, खराब दृश्य देखता है, अश्लील साहित्य पढ़ता है, जीवन को पतन की ओर ले जाने वाले दृश्यों को देखता है–यह आंखों का दुरुपयोग है।

आंखें बहुत मूल्यवान वस्तु हैं। विचारणीय बात यह है कि जिनको आंखें प्राप्त हैं वे उनका यथार्थ मूल्यांकन करते हैं या नहीं? आंखों का मूल्य उनसे पूछा जाए, जिनके पास आंखें नहीं हैं। नेत्रहीन व्यक्ति की दुनिया बहुत छोटी होती है।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि

महात्मा बुद्ध के पास कुछ व्यक्ति आए और बोले–भंते! हमारे गांव में एक ऐसा व्यक्ति है जो सूर्य को नहीं मानता, प्रकाश को नहीं मानता। हम सबने उसको बहुत समझाया कि भैया! सूरज होता है, प्रकाश होता है, सुबह होती है, पर वह तो किसी भी शर्त पर यह मानने के लिए तैयार नहीं है।

बुद्ध ने पूछा–उसके पास आंखें हैं या नहीं?

भंते! आंखें तो नहीं हैं। वह अंधा है।

बुद्ध ने समाधान की भाषा में कहा–फिर तुम मनाने की चेष्टा क्यों करते हो? उसे वैद्य के पास ले जाओ। आंखों का इलाज करा दो। आंखों का आवरण हट जाएगा, रोशनी आ जाएगी तो स्वयं ही मानने लग जाएगा। ऐसा ही किया गया। दृष्टि मिलते ही उस व्यक्ति ने स्वतः यथार्थ का बोध कर लिया। कई बार दृष्टि प्राप्त व्यक्ति भी रंगीन चश्मा लगाकर यथार्थ का बोध नहीं कर पाता। जिस रंग का चश्मा पहन लेता है उसे दुनिया वैसी ही दिखाई देने लगती है। पीलिये के

रोगी को प्रत्येक वस्तु में पीलापन नजर आता है। अपेक्षा है व्यक्ति यथार्थ दर्शन का प्रयत्न करे। जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में जाने। अधिक जानना भी ठीक नहीं। कम जानना भी ठीक नहीं। अधिक जानना और कम जानना दोनों ही अयथार्थ हैं। जो वस्तु जिस रूप में है, उसे उसी रूप में जानना सम्यक ज्ञान होता है।

दृष्टि का मूल्य

किसी भी क्रिया की निष्पत्ति के पीछे दृष्टिकोण बहुत बड़ा निमित्त बनता है। बिल्ली अपने बच्चे को भी पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है, पर दोनों की पकड़ में बहुत बड़ा अंतर होता है। बच्चे के प्रति ममता का भाव है, चूहे के प्रति क्रूरता का। बच्चे को बचा लेती है। चूहों को मार देती है। अंतर्दृष्टि का अंतर है। दृष्टि में अंतर आते ही परिणाम में अंतर आ जाता है। एक शल्यचिकित्सक भी पेट को औजार से चीरता है और एक डाकू भी पेट को छुरा भोंककर चीरता है। पेट को चीरने की क्रिया एक होने पर भी दृष्टि की समानता नहीं है। डॉक्टर की दृष्टि व्यक्ति को जीवनदान देने पर टिकी है। डाकू की दृष्टि जीवन को लूटने पर टिकी है। दृष्टि में बदलाव आते ही सबकुछ बदल जाता है।

राज्य का मूल्य

मनुष्य जीवन को बहुमूल्य और दुर्लभ माना जाता है। इसका सही मूल्यांकन होना जरूरी है। पदार्थपरक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति मानव जीवन की महत्ता का बोध नहीं कर सकता। एक राजा संन्यासी के पास गया। नमस्कार कर अहंकार की भाषा में कहने लगा–महात्माजी! आप मुझे जानते हैं या नहीं? मैं सम्राट हूं। मेरे पास विशाल साम्राज्य है। बहुत बड़ी सेना है। अकूत खजाना है। संन्यासी साधक थे, ज्ञानी थे। वे राजा के अहंकार की भाषा समझ रहे थे। बिना किसी प्रतिक्रिया के चुपचाप सुनते रहे। जब राजा बोलकर मौन हो गया तो संन्यासी ने उसके अहं पर चोट करते हुए कहा–राजन्! तुम्हारा व्याख्यान तो मैंने बहुत सुन लिया, पर मेरी दृष्टि में तो तुम्हारे राज्य का मूल्य दो गिलास पानी से अधिक नहीं है। राजा भौचक्का रह गया। इतने बड़े साम्राज्य का मूल्य दो गिलास पानी कैसे हो सकता है? संन्यासी ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा–राजन्! कल्पना करो, तुम कहीं घूमने निकले। बीहड़ जंगल में चले गए। साथी कोई पास में न हो। गर्मी के मौसम में भयंकर प्यास लग जाए। पानी कहीं दिखाई न दे। प्राण कंठों में आ जाएं। उस समय संयोगवश कोई व्यक्ति आए और एक गिलास ठंडा पानी तुमको पिलाए तो तुम उसे क्या दोगे?

राजा बोला–महात्मन्! प्यास से मेरे प्राण निकल रहे हों, मौत सिर पर मंडरा रही हो, उस समय मुझे कोई एक गिलास पानी पिला दे तो मैं उसे आधा राज्य दे दूंगा।

संन्यासी ने कहा–राजन्! फिर एक कल्पना करो–तुम घूमने निकले। घोड़ा उलटी गति का था। तुम्हें सघन जंगल में ले आया। साथी सब पीछे छूट गए। भयंकर गर्मी का समय। तपती दुपहरी। अकस्मात् तुम्हारे शरीर में मूत्र-रोध की बीमारी हो गई। प्राणांतक वेदना हो रही थी। उस समय कोई वैद्य आए और तुम्हें ऐसी दवा दे जिससे मूत्र-रोध समाप्त हो जाए। एक गिलास जितना प्रस्रवण हो जाए। तुम्हें आराम मिले। स्वस्थता की अनुभूति हो। उस समय तुम उसे क्या दोगे?

संन्यासी–महात्मन्! उसे मैं प्रसन्न होकर आधा राज्य दे दूंगा। संन्यासी ने अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा–राजन्! समझे या नहीं? एक गिलास पानी पिलाने का आधा राज्य और एक गिलास पानी निकालने का आधा राज्य। कुल मिलाकर पूरे राज्य का मूल्य दो गिलास पानी जितना ही तो हुआ। फिर तुम किस बात का अहं करते हो? राजा नतमस्तक हो संन्यासी के चरणों में गिर पड़ा। अहं विलय का अनूठा सूत्र उसके हाथ लग गया।

अहंकार पतन का मार्ग है। अहंकारी व्यक्ति यथार्थ से अनभिज्ञ रहता है। औरों के सामने व्यक्ति अहंकार का प्रदर्शन कर भी सकता है, पर मौत के आगे तो किसी का अहं चलता नहीं। कोई यह सोचे कि मेरे पास सुरक्षा की बहुत बड़ी व्यवस्था है, मौत मेरा क्या बिगाड़ेगी? क्या वह मौत के मुंह में जाने से बच सकता है?

ज्ञानीजन कहते हैं–व्यक्ति किस बात का अहं करे? आज जिसे मनुष्य जन्म प्राप्त है, वह कितनी बार बेर की गुठली में पैदा हुआ होगा? कितनी बार खजूर की गुठली में जन्म लिया होगा? कितनी बार सांप, बिच्छू बना होगा? कितनी बार पेड़-पौधा बना होगा? जो व्यक्ति सचाई को समझ लेता है, उसका अहं विगलित हो जाता है।

मानव की महत्ता

व्यक्ति अपनी दृष्टि को सम्यक बनाए, चिंतन को प्रशस्त बनाए और मनुष्य जीवन की महत्ता को समझे, यह अपेक्षित है। इनसान में भगवान बनने का सामर्थ्य है। आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। पशु-पक्षी जगत में वह नहीं है। देव भी भगवत्ता को प्राप्त नहीं हो सकते। एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो विकास के चरम शिखर को छू सकता है। इस दृष्टि से मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा महत्त्व है। मनुष्य में सोचने का सामर्थ्य है, विवेक-चेतना है। वह धर्म का आचरण कर सकता है। मनुष्य और पशु के बीच भेदरेखा खींचने वाला धर्म ही है। नीतिकारों ने कहा है–

आहारनिद्राभयमैथुनानि, सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणां।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना।।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन–इन चार बातों की मनुष्य और पशु में समानता है। एक धर्म अथवा विवेक ही ऐसा तत्त्व है, जिसके आधार पर पशु से मनुष्य की अलग पहचान होती है।

हम विचार करें कि आदमी की दृष्टि कहां टिकी है–गुणों पर या बुराइयों पर? सद्गुण ग्राह्य हैं और दुर्गुण त्याज्य। क्रोध करना, अपशब्द का प्रयोग करना, असत्य बोलना, धोखा देना, चोरी करना, असंयम करना–ये दुर्गुण हैं। विनम्र रहना, किसी को कष्ट न देना, असत्य न बोलना, उत्तेजित न होना, सरल होना–ये सद्गुण हैं। सद्गुण संजोकर व्यक्ति महान बन सकता है और दुर्गुण संजोकर व्यक्ति अधम बन सकता है। अपेक्षा है महान बनने के बीजों पर दृष्टि रखते हुए उन्हें पल्लवित, पुष्पित और फलित करने की दिशा में गति हो और पतन की ओर ले जाने वाले बीजों को नष्ट करने का प्रयत्न हो। जीवन की सफलता का यह बीजमंत्र है। ❑

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए

जैन भारती
पढ़ें–सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

दादा-पोता के संबंधों का विकास

आचार्य महाप्रज्ञ

संस्कृत का एक शब्द है आश्चर्य। महाभारत में यक्ष प्रश्न आता है, उसका एक प्रश्न है कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? पांडव अज्ञातवास की अवधि बिता रहे थे। जंगल में एक दिन प्यास लगी। भीम पानी की तलाश में एक सरोवर के किनारे पहुंचे। जैसे ही उन्होंने पानी पीने का प्रयत्न किया, एक आवाज सुनाई दी–पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दो। भीम ने चारों ओर देखा, कोई दिखाई नहीं दिया। उसने पुनः पानी पीने का प्रयत्न किया। वे पानी नहीं पी सके, मूर्च्छित हो गए। यही स्थिति अन्य तीन भाइयों की हुई। अंत में युधिष्ठिर आए। युधिष्ठिर ने भी वह आवाज सुनी। उन्होंने कहा–मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूंगा। वह आवाज यक्ष की थी। उसने अनेक प्रश्न पूछे, जिनका समाधान युधिष्ठिर ने दिया। यक्ष का एक प्रश्न था कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या? इस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा–मनुष्य रोज प्राणियों को मरते हुए देखता है किंतु वह स्वयं जीवित रहना चाहता है, इससे बड़ा आश्चर्य क्या है?

अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्ति यममंदिरे।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।।

आश्चर्य विकास का बहुत बड़ा माध्यम बना है। एक शब्द ऐसा होता है जो विकास का माध्यम बनता है और एक शब्द ऐसा होता है जो विकास से ह्रास की ओर ले जाता है। शब्द में बड़ी शक्ति है और उस शक्ति का उपयोग करना जानें तो बड़ा काम हो सकता है।

आश्चर्य शब्द दर्शन के विकास का बहुत बड़ा माध्यम रहा है। आकाश कितना बड़ा है और यह सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र कितने प्रभास्वर हैं? यह सौरजगत कितना बड़ा है? देखा, आश्चर्य हुआ। पेड़-पौधा कैसे पनपता है? घास अपने आप कैसे उग जाती है? आदमी कैसे पैदा होता है? आश्चर्य हुआ और इस आश्चर्य ने जिज्ञासा को बढ़ाया, दर्शन का विकास हुआ।

आश्चर्य, कुतूहल और जिज्ञासा–ये विकास के साधन हैं। भगवती सूत्र में स्थान-स्थान पर प्रसंग आता है–गणधर गौतम को जब-जब कुतूहल होता, वे भगवान महावीर के पास जाते, प्रश्न पूछते और समाधान पा लेते।

'यह कैसे हो सकता है?' इस कुतूहल ने दर्शन का विकास किया है। दार्शनिक इतिहास में माना जाता है कि दर्शन के विकास में कुतूहल, जिज्ञासा और आश्चर्य का बहुत बड़ा स्थान रहा है। कोई भी घटना होती है तो आश्चर्य होता है। आश्चर्य से विस्तारित नेत्र होकर देखता है, एकदम आंखें खुली रह जाती हैं।

आश्चर्य यौगलिक युग में भी हो रहा था। यौगलिक युग में किसी का पाणिग्रहण होना, आश्चर्य का विषय था। जो घटना कभी देखी नहीं, सुनी नहीं, आज वह हो रही थी। सबके लिए आश्चर्य का विषय बन गई। क्या होगा? चर्चा शुरू हो गई।

एक ने कहा–'देखो! यह काम हो तो रहा है। नाभि कर रहे हैं और दूसरे यौगलिक भी मिले हैं। कहें तो क्या, पर समझ में नहीं आ रहा है।' यह स्वाभाविक है कि कोई भी नया काम होता है तो सबकी समझ में नहीं आता। हो सकता है तीस-चालीस प्रतिशत लोगों की समझ में आ जाये। बीस-तीस प्रतिशत ऐसे लोग हो सकते हैं जिनकी समझ में तो नहीं आता, पर मौन रह जाते हैं। दस-बीस प्रतिशत ऐसे लोग होते हैं, जिनकी समझ में भी नहीं आता और जो मौन भी नहीं रहते। मुंह खोल लेते हैं, चर्चा और आलोचना का विस्तार कर देते हैं। सारी स्थितियां बनती हैं नई घटना में।

एक यौगलिक ने दूसरे से कहा–'देखो! यह सुनन्दा कन्या! ऋषभ के साथ इसका पाणिग्रहण हो रहा है। क्या इसका अर्थ तुम समझते हो? क्या इससे घर में लड़ाई नहीं बढ़ेगी? आज तक जिसके साथ संपर्क नहीं, परिचय नहीं। लगता है, घर का आंगन निश्चित ही समरांगण बन जायेगा। आज तक तो यह क्रम रहा–साथ में जन्मते, एक-दूसरे से परिचित होते। कोई समस्या नहीं होती। न ऋषभ सुनन्दा को जानते हैं, न सुनन्दा ऋषभ को जानती है। अब कैसे परस्पर में बैठेगा? कैसे स्वभाव मिलेगा? कैसे शांत सहवास होगा?'

आनंद नाभि के परिसर में, परिकर में,
संव्याप्त एक-सा बाहर में, अंतर में।
बाहर-भीतर का द्वैध अभी अनजाना,
है निराकरण ऋजुता का ताना-बाना।।
मंगल वेला परिणय की सम्मुख आई,
परिवार-वृद्धि की यह पहली परछाईं।
है युगल-युगल की द्विवचन-निष्ठ अवस्था,
अब नए व्याकरण में बहुवचन व्यवस्था।।

बड़ा कठिन काम है परिचित होना। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से परिचित कैसे हो सकता है? व्यक्ति का अपना अंतर का जगत होता है, दूसरे का अपना अंतर का जगत होता है। बाहर से तो परिचित हो जाते हैं। एक का चेहरा दूसरे ने देख लिया, दूसरे का चेहरा पहले ने देख लिया। बाहरी परिचय तो हो गया, पर भीतरी परिचय होना बड़ा कठिन है, इसीलिए बहुत सारी समस्याएं होती हैं। पढ़ा-लिखा है, कमाऊ है या पढ़ी-लिखी है, सुंदर है आदि-आदि बाहरी परिचय पा लिया। पर भीतर में आग जल रही है यह पता कैसे लगे? प्रकृति उग्र है या शांत? मनोवृत्ति उदार है या कृपण? आवेश प्रबल है या उपशांत? यह देखे-परखे बिना केवल बाहरी रूप-रंग के आधार पर किया गया निर्णय समस्या बन जाता है।

ऐसे अनेक प्रसंग सामने आते हैं–बाहरी रंग-रूप देखा, संबंध कर दिया। विवाह हो गया। आकृति जितनी सुंदर, प्रकृति उतनी ही असुंदर। जैसे ही प्रसंग आता, क्रोध का आवेश प्रबल बन जाता। लज्जा को त्याग देती। घर को छोड़कर बाजार में जा खड़ी हो जाती। प्रश्न उभरता–क्या यह वही है? बहुत कठिन है भीतर का परिचय।

युगल कह रहे हैं कि कोई परिचय नहीं है। कैसे होगा? इतनी लड़ाइयां, कलह और संघर्ष होगा कि शांति से रह नहीं पायेंगे। अपनी-अपनी जिज्ञासा है, अपना-अपना चिंतन है। कोई भी नई स्थिति आती है तो इस प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं, स्थितियां बनती हैं। यह स्वाभाविक था। काफी चर्चा आपस में हुई। आखिर समय आ गया।

न मंडप की रचना हुई, न वेदी, न अग्नि का साक्ष्य। न मंत्रोच्चारक, न मंत्रोच्चारण। केवल पाणिग्रहण। यह पाणिग्रहण नया इतिहास रच रहा था। मन से मन का मिलन ही वास्तविक विवाह है। जीवन का प्रवाह सामाजिक बनने की सूचना दे रहा था। इसका एक साक्ष्य था पाणिग्रहण।

युगलों के मन में जिज्ञासा थी, प्रबल आकर्षण था। सब एक दूसरे से बतियाते हुए नाभि के आवास-स्थल की ओर आ रहे थे। नाभि भी अपने परिवार के साथ आए।

यौगलिकों की साक्षी में ऋषभ के साथ सुमंगला और सुनंदा का पाणि-ग्रहण हो गया। ऋषभ के दो पत्नियां हो गईं। आज तक तो बहु-पत्नीवाद नहीं था। अब बहु-पत्नीवाद की परंपरा का सूत्रपात हो गया।

संपन्न पाणि से ग्रहण पाणि का पावन,
जैसे बरसा हो रिमझिम रिमझिम सावन।
अभिनव युग का विन्यास ऋषभ के द्वारा,
बहु बहु आयामी है जीवन की धारा।।

बहु-पत्नीवाद की प्रथा आज भी चल रही है। अब कुछ कानून बने हैं कि दो पत्नियां नहीं रख सकते। कुछ संप्रदायों में आज भी दो पत्नियां होती हैं। हिन्दुस्तान के हिन्दू विवाह अधिनियम में यह मान लिया गया कि दो पत्नियां नहीं हो सकती। प्राचीनकाल में किसी राजा के सौ रानियां भी होती थीं। यह मानदंड बन गया–जिसके जितनी ज्यादा पत्नियां, वह उतना ही बड़ा आदमी। यह बड़े आदमी का एक चिह्न बन गया। इसीलिए पौराणिक युग में वासुदेव के हजारों रानियों की कल्पना कर ली गई। चक्रवर्ती के रानियों की संख्या लाख से भी अधिक मान ली गई।

चक्रवर्ती के 192000 रानियां बतलाई गईं। पूरा नगर बस जाये रानियों का। यह मान लिया–चक्रवर्ती सबसे बड़ा सम्राट है, इसलिए उसके इतनी रानियां होती हैं। हजारों-हजारों रानियों का एक मानदंड बन गया। बहुपत्नीवाद प्रचलित हो गया। बहुपत्नीवाद की भांति बहुपतिवाद भी यत्र तत्र चलता रहा है। द्रौपदी इसका एक उदाहरण है। द्रौपदी एक और पति पांच। आज अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहां महिलाएं कम हैं, पुरुष ज्यादा हैं। वहां बहुपतिवाद की प्रथा भी विकसित हुई है। बहुपत्नीवाद तो व्यापक रूप में चला है।

समय-समय की मान्यताएं इतनी विचित्र होती हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। इसीलिए इन व्यवस्थाओं पर आदमी को अटकना नहीं चाहिए। जिस समय जो व्यवस्था है, उसी के आधार पर निर्णय होना चाहिए। दो हजार वर्ष पहले की व्यवस्था को आज लागू करना चाहें तो यह संभव नहीं है। पुराने जमाने में मनु हुए, मनुस्मृति बनाई। याज्ञवल्क्य हुए, याज्ञवल्क्य स्मृति बनाई। स्मृतियां बनीं, कल्पसूत्र बने, धर्मसूत्र बने, उन्होंने समाज को व्यवस्था दी। क्या आज वह व्यवस्था लागू हो पाएगी? समाज को धर्म के साथ मत जोड़ो। समाज की व्यवस्था समाज के स्तर पर होनी चाहिए।

मनुष्य के द्वारा नियम बनाया गया है, मर्यादा बनाई गई है। उसमें यथासंभव परिवर्तन होता रहता है, होते रहना चाहिए। समाज की व्यवस्थाएं बदलती रहती हैं। कोई परिवर्तन का क्षण आया, एक बार आश्चर्य पैदा हो गया। चर्चा हुई और आखिर पाणिग्रहण हो गया। पाणिग्रहण के पश्चात् स्थिति शांत हो गई।

कोई घटना घटित होने वाली होती है तब आश्चर्य होता है। घटना घटित हो जाती है तो बात समाप्त हो जाती है। जो लोग देखने आये थे कि चलो आज क्या नया होगा? हम भी देखें। उन्होंने देख लिया कि ऋषभ के दो पत्नियां बन गईं। वे वापस चले गये।

ऋषभ दो पत्नियों के साथ रह रहे हैं। नाभि जीवित हैं, यह भी नया उपक्रम हो रहा था। नियम सामान्य यह था–युगल युगल को जन्म देता और छह महीने के बाद दिवंगत हो जाता किंतु ऋषभ के जन्म के बाद भी नाभि और मरुदेवा जीवित थे।

यह एक नया परिवर्तन था। छह महीने के बाद दिवंगत नहीं हुए, लंबे समय तक जीवित रहे। एक परिवर्तन हो गया। परिवार में पांच व्यक्ति हो गये। पहले कभी नहीं हुए। पहले चार रहते। छह महीने के बाद माता-पिता दिवंगत हो जाते और युगल शेष रह जाता। यह नया परिवर्तन था–लंबे समय तक पांच व्यक्ति साथ रहे। एक परिवार बन गया।

एक दिन रात्रि का समय। सुमंगला सो रही थी। अचानक हर्ष के साथ उठी। उसने ऋषभ को जगाया। सुमंगला ने कहा–'स्वामी! आज तो एक नई घटना हुई, कुछ नया हुआ। मैं सो रही थी, सोते-सोते मेरे सामने दृश्य आते गये। मैंने चौदह स्वप्न देखे। हाथी, सिंह, माला, सूर्य, चंद्र आदि के मनोहर दृश्य देखे।' ऋषभ के जन्म से पूर्व ये स्वप्न मरुदेवा ने देखे थे।

मरुदेवा ने स्वप्न की बात नाभि को बताई। नाभि उसका अर्थ नहीं जानते थे किंतु ऋषभ अर्थ जानते थे। ऋषभ के पास अवधिज्ञान था। सुमंगला ने चौदह स्वप्नों के नाम गिनाये। ऋषभ ने उनकी व्याख्या शुरू कर दी। ऋषभ ने कहा–'सुमंगला! तुम्हारे पुत्र होगा और वह चक्रवर्ती होगा। तुमने चौदह स्वप्न देखे हैं। चौदह स्वप्न देखने वाली मां उस पुत्र को जन्म देती है जो चक्रवर्ती होता है।'

स्वप्नों का मानव से संबंध पुरातन,
निद्रा में जाग्रत होता अवचेतन मन।
रोमांचित पुलकित सुमंगला तब आई,
जब ऋषभ ले रहे जाग्रति की अंगड़ाई।।
बोली, मैंने देखी स्वप्नों की माला,
इस दिव्य निशा में पीया अमृत का प्याला।
उज्ज्वल भविष्य है देवि! सुपुत्र तुम्हारा,
सम्राट बनेगा कुलकर-कुल ध्रुवतारा।।

चक्रवर्ती क्या होता है, यह सुमंगला नहीं जानती थी। प्रत्येक शब्द अपना अर्थ देता है। शब्द का अर्थ जानें तब तो आनंद होता है। शब्द का अर्थ न जानें तो पूरी बात समझ में नहीं आती। सुमंगला को जो आनंद होना चाहिए था वह नहीं हुआ। आनंद तो तब होता है जब उस शब्द के अर्थ को जानें। अन्यथा कोई अच्छा शब्द कह दो या बुरा कह दो, कोई फर्क नहीं पड़ता।

कुछ लोग सांकेतिक भाषा में अच्छे-बुरे शब्दों को गढ़ लेते हैं। कोई आता है तो उसका प्रयोग करते हैं। आने वाला तो उसको समझता नहीं है। सांकेतिक भाषा का अर्थ क्या समझेंगे? जब तक शब्द का अर्थ समझ में न आये तब तक कुछ नहीं होता।

सुमंगला को थोड़ा हर्ष हुआ। ज्यादा जान नहीं सकी।

ऋषभ ने कहा–'तुम्हारा पुत्र अच्छा होगा। परम भाग्यशाली और यशस्वी होगा।'

यथासमय युगल का जन्म हुआ। एक कन्या और एक पुत्र का जन्म। ब्राह्मी और भरत के जन्म के साथ-साथ एक नया शब्द शब्दकोश में बढ़ गया। शब्दकोश अर्थ के साथ बढ़ता है। आज तक शब्दकोश में दादा-पोता शब्द नहीं था। यौगलिकों के शब्दकोश में बाप-बेटा शब्द तो था, पर दादा-पोता जैसा शब्द नहीं था। दादा होता ही नहीं था। भरत का जन्म हुआ और शब्दकोश में दो शब्द बढ़ गये। एक उल्लास का वातावरण बना। युगल के नामकरण का प्रश्न आया। ऋषभ को अवधिज्ञान था। इतने दिन तो काम ऐसे ही होता था, पर अब सारा काम ज्ञान के साथ शुरू हो गया। पूछा–क्या नाम रखा जाए? उनके निर्देशानुसार पुत्र का नाम भरत और पुत्री का नाम ब्राह्मी रखा गया।

पावन वेला में हुआ सुजन्म युगल का,
उल्लास प्रकृति के कण-कण में है झलका।
दो नए शब्द फिर शब्दकोश ने पाए,
दादा-पोता संबंध जगत् में आए।।

यह भारतवर्ष नाम कहां से आया? भरत के नाम से भारतवर्ष नाम विश्रुत हुआ। जैन साहित्य में उल्लेख है कि ऋषभ का पुत्र भरत और भरत के नाम से यह भारत-वर्ष बना। इस बात को वैदिक लोग भी स्वीकार करते हैं। अनेक पुराणों में उल्लेख है–ऋषभ अवतार हुआ। उनके सौ पुत्र हुए। उनमें ज्येष्ठ था भरत और भरत के नाम से यह भारतवर्ष बना। बाद में आर्यावर्त्त नाम हुआ, हिन्दुस्तान भी हुआ। किंतु इसका मूल नाम है भारत-वर्ष। सुनन्दा ने भी युगल को जन्म दिया। उसका नाम रखा गया बाहुबली और सुंदरी।

ऋषभ का परिवार बढ़ रहा था। जहां एक युगल पैदा होता था, वहां सुमंगला ने उनचास युगलों को जन्म दिया। आश्चर्य तो है कि एक साथ इतनी छलांग कैसे हुई?

यह पहला समय था कि परिवार बढ़ा। परिवार बढ़ने की परंपरा का सूत्रपात ऋषभ ने किया। उस समय तो कोई परिवार नियोजन की चर्चा नहीं थी। आवश्यकता तो थी। उस समय खाने की कमी हो गई थी। प्रकृति भी मोड़ ले रही थी। प्रकृति में जब परिवर्तन होता है तब नई-नई बातें होती हैं। ❑

ऋषभायण में राजा की अर्हता

साध्वी मंगलप्रज्ञा

सामान्य जनता अपने शासक का अनुसरण करती है। इसलिए कहा गया–'यथा राजा तथा प्रजा'। ऐसी स्थिति में नेता पर अत्यधिक जिम्मेदारी आ जाती है। वह सामान्य जनता का आदर्श बनता है, अतः उसमें चारित्रिक उच्चता की अत्यंत अपेक्षा होती है। सत्ता और प्रशासन से संबंधित व्यक्तियों की योग्यता की दो कसौटियां हो सकती हैं–चरित्रबल और बौद्धिक क्षमता। इसमें भी प्रमुख चरित्रबल है। यदि उसका चारित्रिक पक्ष उजला नहीं है तो उसमें सत्ता के शीर्ष पर आरूढ़ होने की योग्यता ही नहीं है। अहिंसा में आस्था, अर्थ का संयम, अपने आवेशों पर नियंत्रण करने की क्षमता, सामाजिक न्याय के प्रति हार्दिक समर्पण, समन्वय और सापेक्षता का दृष्टिकोण, बौद्धिक और मानसिक संतुलन–ये राजनेता के चारित्र के मुख्य तत्त्व हैं।

'ऋषभायण' में राजा की अर्हता का सांगोपांग विवेचन हुआ है। शासक को इंद्रियजयी होना चाहिये। इंद्रियजय ही राज्य का मूल है–राज्यमूलमिन्द्रियजयः। चाणक्य के इस सूत्र की आज के पदार्थवादी और सुविधावादी युग में अत्यंत अपेक्षा है। अजितेंद्रिय राजा राज्य में समुचित व्यवस्था नहीं कर सकता। 'ऋषभायण' का महाकवि भी शासक की जितेंद्रियता का प्रबल पक्षधर है। जितेंद्रियता के अभाव में शासन-व्यवस्था ही समाप्त हो जाती है–

अजितेंद्रिय शासक विफल, अंकहीन ज्यों शून्य।
संयत शासक प्राप्तकर होती धरा प्रपुण्य।

अर्थ के प्रति सम्यक दृष्टिकोण रखने वाला राजा ही राज्य का सम्यक निर्वाह कर सकता है। मनु ने ठीक ही कहा था–'अर्थशुचिः शुचिः'। पवित्र वह होता है जो अर्थ के मामले में शुचि (पवित्र) होता है। धन को लेकर कोई-सा भी व्यक्ति जिस पर अंगुलि-निर्देश न कर सके, वही श्रेष्ठ नेता होता है। राजा को करुणाशील भी होना चाहिये। करुणा के धागे से बंधा शासन व्यवस्थित रहता है। करुणा के अभाव में वह छिन्न-भिन्न हो जाता है–

क्रूर नृपति शासनसूत्र, मातृस्नेह से विरहित पुत्र।
शासन सह संवेदन पूत, शांतिदूत बनता साकूत।।

महाकवि भारवि प्रणीत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के प्रथम सर्ग में भी राजा की अर्हताओं का उल्लेख हुआ है। वनेचर दुर्योधन के राज्य में जाकर उसके आचार-व्यवहार का निरीक्षण करता है एवं वहां से आकर सारी स्थिति की अवगति धर्मराज युधिष्ठिर को देता है। उस वर्णन में राजा की योग्यताओं की अभिव्यक्ति हो रही है। जिनको हम निम्न वर्गीकरण से जान सकते हैं। श्रेष्ठ राजा वह होता है–

1. जो अपनी काम-क्रोध आदि वृत्तियों पर नियंत्रण रखता है। 2. जो आलस्य मुक्त होता है। 3. जो नीति का आलंबन लेकर चलता है। 4. जो पुरुषार्थी होता है। 5. जो अपने सहयोगियों के साथ मित्रवत आचरण करता हुआ उनका आदर करता है। 6. जो पक्षपातरहित होता है। 7. जो साम, दाम, दंड एवं भेद इन चारों नीतियों का ज्ञाता एवं प्रयोक्ता होता है। 8. जो दानशील होता है। 9. जो योग्य व्यक्तियों का सत्कार करता है। 10. जो धार्मिक होता है।

राजा ऋषभ प्रशासनिक जीवन में सिद्धहस्त हैं।

राज्य-व्यवस्था संचालन के सूत्र

व्यवस्था के निर्माण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसका संचालन कैसे किया जाए? कुशल संचालक के अभाव में सुघटित व्यवस्था भी राज्य को स्वस्थता प्रदान नहीं कर सकती। संचालन कौशल से ही व्यवस्था प्राणवान बन सकती है। ऋषभ जब संन्यास के मार्ग पर आरूढ़ होने का संकल्प ले लेते हैं तब वे अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक करते हैं एवं भरत को राजनीति का उपदेश देते हैं। वह उपदेश आज भी उतना ही प्रासंगिक है। ऋषभायण के महाकवि प्राचीन-अर्वाचीन शासन संचालन की विधियों का वर्णन ऋषभमुख से क़रवाते हैं।

शासन संचालन में अनुग्रह एवं निग्रह का संतुलन आवश्यक है। एकांगी व्यवहार समस्या का सर्जक होता है। ऋषभायण के महाकवि अनेकांत दृष्टि के संपोषक हैं। शासन-व्यवस्था में अनेकांत दृष्टि की अनुपालना होने से समस्याएं समाहित हो जाती हैं। यह उनका दृढ़ अभिमत है।

केवल निग्रहनीति से बढ़ता जन आक्रोश।
सिर्फ अनुग्रह नीति से खो देता नर होश।।
निग्रह और अनुग्रह युक्त, शासन विपदापद से मुक्त।
दोनों का समुचित व्यवहार, मनुज प्रकृति का वर उपचार।।

वह व्यक्ति महान होता है जो दूसरों के पोषण के लिए अपनी शक्ति का नियोजन करता है। जो अपने पोषण के लिए दूसरों का शोषण करता है, वह व्यक्ति जुगुप्सा का पात्र बनता है। शासन-संचालन व्यवस्था शोषण से नहीं अपितु पोषण से सुदृढ़ बनती है। इस तथ्य को महाकवि ने कितनी सुंदर प्रस्तुति दी है–

अमरबेल ने आरोहण कर, किया वृक्ष का शोष।
वह कैसा प्राणी जो करता, पर शोषण निज पोष
कितना हाय जुगुप्सितकर्म लज्जित हो जाती है शर्म।।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अतीत के झरोखे से वर्तमान का जीवन-दर्शन दिया है। सत्ता प्राप्त कर व्यक्ति अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को ऋषभायण के महाकवि ने दायित्व-बोध का अनुभव प्रणीत उद्घोष दिया है। वही शासक और शासन सफल हो सकता है, जो जनता की दुःख दुविधा को मिटाने में सतत जागरूक एवं क्रियाशील बना रहता है। जो शासक दुःख-दुविधा से पीड़ित जनता के हित की चेष्टा नहीं करता, उसका शासन रुग्ण, अप्रीतिकर एवं असहनीय बन जाता है। जन आक्रोश उभर जाता है। जनता ऐसे शासन से मुक्ति पाने का प्रयत्न करती है, अतः यह आवश्यक है कि नेतृवर्ग शासन-संचालन का कार्य संवेदन की चादर ओढ़कर करें–

जनता की दुविधा मिटे, शासन का है ध्येय।
दुविधा की यदि वृद्धि हो, वह आमयकर पेय।।
चरण-चरण के साथ चले, मन में प्रतिपद संवेदन हो।
जनतापी पीड़ा से विगलित, रोम-रोम में स्वेदन हो।।

राज्य संचालन के सहयोगी

राज्य संचालन का मुख्य दायित्व राजा पर अथवा आज की भाषा में प्रधानमंत्री पर होता है किंतु अकेला व्यक्ति शासन-संचालन नहीं कर सकता। उसे सहयोगियों की अपेक्षा होती है। प्राचीनकाल से ही यह सर्व सम्मत अवधारणा रही है कि राजा के सहयोगी निपुण मंत्री होने चाहिये। एक चक्र से राज्य-व्यवस्था का रथ गतिशील नहीं हो सकता–**नैकं चक्रं परिभ्रमयति।**

ऋषभायण में भी यह सत्य उजागर हुआ है–

एक चक्र बल से नहीं, चल सकता है यान।
होता है साचिव्य से, शासन रथ गतिमान।

राज्य राजाओं की पारिवारिक समस्या नहीं है अतः राज्य-संचालन में उन्हें राष्ट्र के व्यवहार-कुशल, दूरदर्शी विशिष्ट पुरुषों की सहायता लेनी ही चाहिये। 'सहाय़साध्यत्वं राज्यत्वम्' राज्य संस्था व्यक्तिगत संस्था भी नहीं है। इसमें सहायकों की सहायता की अनिवार्य अपेक्षा होती है। चाणक्य ने तो यहां तक कह दिया है कि मंत्री परिषद की बौद्धिक सहायता से रहित अकेला राजा अपने सीमित अनुभवों से जटिल कर्तव्यों के विषय में सुदूरव्यापी उचित निर्णय ही नहीं कर सकता–**नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः।**

'नीतिवाक्यामृत' में राजा को अनेक सहयोगी रखने का परामर्श दिया गया है। जिस राजा के अधिक सहयोगी होते हैं, उसके सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं–**बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः**।

अकेला व्यक्ति व्यवस्था का सम्यक संचालन नहीं कर सकता। व्यवस्था के अभाव में राज्य विखंडित हो जाता है। मंत्रीविहीन राजा एक शाखा वाले वृक्ष के सदृश है जिसकी छाया नहीं हो सकती–**किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया**।

सहयोगी की योग्यता

नेता को अपने सहयोगी मंत्रियों के चुनाव में सतर्क रहना चाहिये। उसके सहयोगियों का चरित्र-बल उत्कृष्ट होना चाहिये। अर्थ की प्रबल आसक्ति वाले मंत्री समाधान की अपेक्षा स्वयं समस्या बन जाते हैं। जनता का भला करने की आड़ में अपने स्वार्थ साधन में तत्पर होकर जनता के लिए अभिशाप बन जाते हैं, अतः सचिव को अर्थलुब्ध नहीं होना चाहिये। 'ऋषभायण' में भी यही स्वर सुनाई दे रहा है–

अर्थलुब्ध यदि सचिव है, पद-पद प्रथित अनर्थ।
शासक ही शोषक तदा, जलसिंचन है व्यर्थ।।

कुलीन, सदाचारी, व्यसनमुक्त, स्वदेश-प्रेमी इत्यादि गुणों से अभिमंडित मंत्री को प्राप्त कर राजा राज्य का सम्यक संचालन कर सकता है। मंत्री यदि व्यसनमुक्त नहीं है तो वह राजा को भी नष्ट कर देता है–**सव्यसनसचिवो राजा आरूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः**।

चाणक्यसूत्र में निर्देश दिया गया है कि तर्कशास्त्र, दंडनीति, वार्ता आदि विद्याओं में पारंगत तथा गुप्त रूप से ली हुई लोभ परीक्षाओं से शुद्ध प्रमाणित व्यक्ति को ही मंत्री नियुक्त किया जाये–**श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्यात्**।

राज-सहयोगी निर्धारण के ऐसे अनेक सूत्र प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध हैं। 'ऋषभायण' में भी उन सूत्रों के साथ ही नवीन अवधारणाओं की अनुगूंज श्रुतिलभ्य है।

ऋषभायण में राजनीति के अनेक मुद्दों पर विमर्श हुआ है किंतु विदेश-नीति, शस्त्र-निर्माण व परीक्षण, अर्थ की समायोजना आदि विषयों पर चिंतन अनुपलब्ध है। यद्यपि यह सच है कि ऋषभ राज्य में इन समस्याओं पर विचार करने का अवकाश ही नहीं है। ऋषभ राज्य इन समस्याओं से मुक्त था लेकिन ऋषभायण के लेखन युग में इन पर विमर्श करना अनिवार्य हो गया है। कवि की भी अपनी सीमा है। इसको जानते हुए भी मन कह रहा है कि यदि इस प्रज्ञावान महाकवि के प्रज्ञाबल से अहिंसात्मक समाधानों का निर्झर निःसृत होता तो एक नयी दिशा आज के दिग्मूढ़ युग को प्राप्त होती।

'ऋषभायण' के महाकवि ने भारतीय संस्कृति, दर्शन और अध्यात्म-चेतना का सुंदर एवं मर्मस्पर्शी चित्रण इस ग्रंथ में किया है। राज्य-व्यवस्था से संदर्भित पद्यों को पढ़कर ऐसा आभास होने लगा–यदि आज का शासक-वर्ग 'ऋषभायण' में ऋषभमुख से भरत के लिए निःसृत शिक्षापदों का अपने जीवन व्यवहार में उपयोग करे तो भारत अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करने में सक्षम हो सकेगा। ऋषभायण के कर्ता स्वयं एक सफल शासक हैं। भले वे एक धर्मसंघ के शासन का संचालन कर रहे हों किंतु जहां भी मनुष्यों का समूह होता है, उसमें अपनी मौलिक मनोवृत्तियां विद्यमान होती हैं। शास्ता को उन सब बातों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचिंतन करके व्यवस्था का समायोजन करना होता है। 'ऋषभायण' में प्रदत्त सम्यक शासन-व्यवस्था के सूत्र कवि की लेखनी से निकले कोरे शब्द नहीं हैं किंतु उनका यह अनुभव प्रणीत जीवन दर्शन है। दर्शन की इस सचाई को वे अपने जीवन में व्यवहार्य बना रहे हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऋषभायण में प्रदत्त राज्य-व्यवस्था कोरी Philosophy नहीं है अपितु applied philosophy है।। ❑

(समाप्त)

(भूल सुधार : सितंबर अंक के पृष्ठ संख्या 13 पर समणी मंगलप्रज्ञा शीर्षक को साध्वी मंगलप्रज्ञा पढ़ें।)

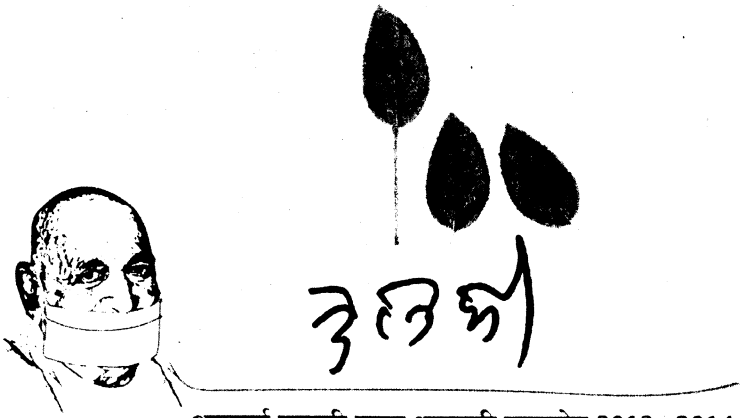

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी समारोह 2013 - 2014

गुरुदेव तुलसी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को शत-शत वन्दन

जिसके उपकारों से उपकृत दो सदियों की युगधारा।
वह साहस पौरुष का दरिया ऋणी रहेगा जग सारा।।

नए सृजन का स्वप्न सलोना, जिसके नयनों में पलता,
दीया उम्मीदों का उजला उसके दिल में था जलता,
आश्वासन की खिड़की खोली मूर्च्छित मानवता जागी,
कदम बढ़े जिस ओर उधर ही एक कारवां था चलता,
गीतों की महफिल मनभावन, लिये हाथ में इकतारा।।

लिखे काल के विशद भाल पर जिसने नए-नए आलेख,
किया समय ने उसके अवदानों का गरिमामय अभिषेक,
चिंतन निर्णय और अमल में क्षम्य नहीं था कालक्षेप,
हो जाते अभिभूत सुधीजन उसका पुष्कल वाङ्मय देख,
सुधियों के सागर में गोते लगा रहा मन बनजारा।।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

दीपावली एक प्रेरणा

आचार्य तुलसी

दीपावली प्रकाश का पर्व है। प्रकाश भीतर का भी होता है और बाहर का भी। इस दिन भीतरी प्रकाश की खोज कोई करे या नहीं, बाहरी प्रकाश कई रंग-रूपों में उजागर होता है। प्रकाश उल्लास का प्रतीक है। इस दृष्टि से दीपावली को हंसी-खुशी का त्योहार माना जाता है।

दीपावली को परिमार्जन का पर्व भी माना जाता है। इस अवसर पर घर, दुकान, आफिस आदि से वर्ष भर का जमा कूड़ा-करकट बुहारकर बाहर निकाला जाता है, बरतनों को चमकाया जाता है। घरों को अनेक प्रकार की अल्पनाओं से सजाया जाता है तथा और भी बहुत कुछ किया जाता है, किंतु इसके साथ जीवन-परिमार्जन की प्रक्रिया पर ध्यान देने की कोई व्यापक परंपरा नहीं है। व्यक्तिगत रूप से कुछ व्यक्ति उपवास, जप-ध्यानादि के उपक्रम चलाते हैं, किंतु जैसे दीया जलाने की और सफाई करने की परंपरा है, वैसा कोई निश्चित अनुष्ठान नहीं चलता है। प्रतीत यह होता है कि प्रकाश का स्थान आतिशबाजी ने ले लिया है। परिमार्जन का स्थान झाड़-पोंछ ने ले लिया है और मेल-जोल में उपचार बढ़ गए हैं।

दीपावली की रात को लक्ष्मी की पूजा की जाती है। पूजा का उद्देश्य होता है धन-वैभव की प्राप्ति। इस प्रकार पूजा करने से कोई व्यक्ति वैभवशाली बना हो, यह तो पता नहीं है, पर उस दिन अनेक लोग अपने घर का दरवाजा इसी आशा से खुला रखते हैं कि लक्ष्मी आए तो द्वार बंद देखकर लौट न जाए। जो लोग दीपावली के दिन नए खाते शुरू करते हैं, वे उसके प्रथम पृष्ठ पर लिखते हैं–हमें गौतम स्वामी जैसी लब्धि और धन्ना-शालिभद्र जैसी ऋद्धि मिले। इस प्रकार की अवधारणाओं के साथ लक्ष्मी, गणेश या किसी अन्य देव की पूजा रूढ़ परंपरा के निर्वाह से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखती।

दीपावली के उपलक्ष्य में जो अपव्यय किया जाता है, उसका क्या अर्थ है? एक ओर देश में बढ़ती हुई गरीबी! करोड़ों लोगों को भरपेट रोटी नसीब नहीं होती। दूसरी ओर अमीरी का ऐसा प्रदर्शन! यह जीवन की बहुत बड़ी विसंगति है। आतिशबाजी अपने आप में अपव्यय है। फिर उससे होने वाली आगजनी में जानमाल की कितनी क्षति होती है। ऐसा करने वाले लोग दीपावली की सांस्कृतिक गरिमा को समझें।

यदि मनुष्य क्षणिक खुशी के लिए आतिशबाजी, द्यूतक्रीड़ा जैसी प्रवृत्तियों को महत्त्व देता है तो यह उसकी भूल है। इससे भी बड़ी भूल यह है कि इसके विरोध में किसी भी दिशा में कोई स्वर नहीं उठ रहा है। समाचारपत्र, रेडियो, टीवी सब मौन हैं। धर्मगुरु और समाजसुधारकों के स्वर भी थमे हुए हैं। आज कोई आवाज सुनाई देती है तो राजनीति के रंग की। शेष सब जगह सन्नाटा छाया हुआ है। आज अपेक्षा है इस सन्नाटे को तोड़ने की। समाज और राष्ट्र के हितों में बाधा पहुंचाने वाली ऐसी परंपराओं का अर्थ बदल दिया जाए और ऐसे दीये जलाए जाएं जो मन का अंधेरा दूर कर दें। ऐसी दीपावली की प्रासंगिकता आज है और आने वाले हर युग में रहेगी।

उजालों को कौन बिछाए?

किसी भी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र का वर्तमान सामने होता है। भविष्य को अंधेरे में माना जाता है, क्योंकि वह सामने नहीं होता। वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। उनका भविष्य अंधकारमय हो सकता है, जो दूसरों के भरोसे पर जीते हैं। जिनकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती, सोच स्पष्ट नहीं होती और पुरुषार्थ जाग्रत नहीं होता, वे अपने भविष्य को अंधकार में धकेल देते हैं। यहां अंधकार शब्द एक प्रतीक है। इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है–पहली व्याख्या के अनुसार अंधकार का प्रतीक उन समस्याओं के लिए किया जा सकता है, जो मनुष्य के सपनों, आकांक्षाओं, आशाओं और कर्तव्य का गला घोंट दे। दूसरी व्याख्या में उभरतां है–मनुष्य की आस्थाहीनता, तत्त्वहीनता और पुरुषार्थहीनता का वलय जिसमें उलझकर वह आगे देखना ही भूल जाता है।

मनुष्य आगत का पुजारी है। वह आगत को अनदेखा करके भी अनागत को संवारना चाहता है। यह चिंतन का अधूरापन है। आगत की कोख से ही अनागत का जन्म होता है। आगत को अंधेरे में रखकर अनागत को आलोक से भरने की बात, बिना बीज फसल उगाने जैसी बात है। भविष्य सदा वर्तमान का ऋणी होता है। जिसका वर्तमान नहीं है, उसका भविष्य कैसे होगा? इस सिद्धांत के आधार पर जो अपने कर्तृत्व को उजालता है, उसके आसपास आलोक बिछ जाता है। कर्तृत्व को उजालने या पुरुषार्थ को जगाने का पहला सूत्र है–आस्था। हमारा भविष्य हमारे हाथ में है, यह आस्था मजबूत हो जाए तो समस्याओं की सौ-सौ आंधियां भी व्यक्ति के भविष्य को अंधकारमय नहीं बना सकतीं।

आज अनेक समस्याएं हमारे जीवन में उभर करके आ रही हैं। एक ओर सांप्रदायिक उन्माद का बढ़ता हुआ प्रभाव, दूसरी ओर आतंकवाद का निरंकुश होता जा रहा दबाव। एक ओर महंगाई एवं बेरोजगारी की मार, दूसरी ओर उपभोक्ता सामग्री की कमी। एक ओर आंदोलनों, हड़तालों और तोड़फोड़ का तांडव नृत्य, दूसरी ओर अपने-अपने आग्रह। और भी बहुत-सी बातें हैं। ये देश को कहां ले जाएंगी? किसके पास है इस विषय में सोचने का अवकाश? इन्हीं सारी समस्याओं के सघन अंधकार में हाथ-पैर मार कर जैसे-तैसे एक-एक पग सरकने वाली देश की भावी पीढ़ी का भविष्य कैसा होगा? यह भी एक चिंतन का विषय है।

हमें अपने भविष्य की थोड़ी भी चिंता है तो वर्तमान को उजालों से भरना होगा। स्वस्थ चिंतन, उदात्त चरित्र और प्रशस्त व्यवहार के उजाले कदम-कदम पर बिछ जाएं तो कोई भी शक्ति देश के उजले भविष्य को उससे छीन नहीं सकेगी। सवाल एक ही है कि इन उजालों को कौन और कैसे बिछाए?

समाज और राजनीति के क्षितिज पर उभरे हुए और अनुभव की तराश से सुलझे हुए कुछ लोग सोच सकते हैं–'हमें कितना जीना है! हम भविष्य की चिंता क्यों करें?' उन्हें एक क्षण रुककर यह भी सोचना होगा कि उनके पुरखों ने जो पुरुषार्थ किया, उसका फल उन्हें मिल रहा है। यदि वे आने वाली पीढ़ी के लिए कुछ करना नहीं चाहते तो अतीत से मिली विरासत का उपभोग क्यों कर रहे हैं? विरासत का अर्थ भी यही है कि अतीत से लो और भविष्य को दो। यदि देने की मानसिकता नहीं है

तो पाने की मानसिकता भी बदलनी होगी। सही अर्थ में सोचा जाए तो व्यक्ति का भविष्य होता है उसकी भावी पीढ़ियां। उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण निर्माण ही उनका भविष्य है, समाज का भविष्य है, देश का भविष्य है और विश्व का भविष्य है। वह हमारे हाथ में है। हम उसे जैसा चाहें, बना सकते हैं।

मनुष्य का मन भी अंधकार जैसी कलुषित वृत्तियों से भरा पड़ा है। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, छल, अभिमान, वंचना, क्रूरता आदि न जाने कितनी वृत्तियां मानवीय चेतना के हर तल पर सघन अंधकार की परतें चढ़ाती जा रही है। मनुष्य इनसे मुक्त होना चाहता है। इसलिए दिन-रात इनके साथ लड़ रहा है। पर सब कुछ उलटा होता जा रहा है। ज्यों-ज्यों वह अपनी वृत्तियों का दमन करता है, वे उतनी ही तीव्रता से उभरकर सामने आती हैं। चारों ओर से हताश हो वह इसी प्रतीक्षा में बैठा है कि कोई उसे भी मन का अंधेरा दूर भगाने की प्रक्रिया सुझाए। प्रक्रिया के अभाव में वह जीवन भर संघर्ष करके भी उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा।

मनुष्य के मन-मन्दिर में व्याप्त अंधकार को निरस्त करने के लिए अणुव्रत का दीप जलाना होगा। जिस क्षण यह दीप प्रज्वलित हो उठेगा, अवांछित वृत्तियों का अंधेरा उलटे पांव दौड़ जाएगा। इस दृष्टि से अपेक्षा है आज अणुव्रत के आलोक को जन-जन तक पहुंचाने की। इस आलोक को पाने के लिए किस सीमा तक तड़प है मनुष्य के मन में, यह थाह लेनी आवश्यक है। क्योंकि तड़प के अभाव में उपलब्ध प्रकाश का भी कोई उपयोग नहीं हो सकता। प्रकाश की खोज में संलग्न प्राणों की प्यास बुझाने वाला अणुव्रत सचमुच ही ज्योति का पुंज है, रश्मियों का समवाय है।

हर मां का सपना होता है कि उसके पुत्र का जीवन उपलब्धियों से भर जाए। उपलब्धियों की चर्चा जितनी लुभावनी है, उतनी ही साधना मांगती है। साधना के बिना आज तक किसी की झोली में उपलब्धियां नहीं आईं। विद्यार्थी का जीवन एक साधक जैसा जीवन होता है। उसका भविष्य उसके परिवार या समाज का ही नहीं, राष्ट्र का भविष्य होता है। जिस राष्ट्र के विद्यार्थी ज्ञान संपन्न और चरित्र संपन्न होते हैं, उस राष्ट्र की छवि अलग ही होती है। ज्ञान और चरित्र के तट जितने मजबूत होते हैं, विद्यार्थी की जीवन-सरिता उतनी ही व्यवस्थित रूप में बहती है। इसलिए ज्ञान और चरित्र–दोनों पल्लों को संतुलित रखने की अपेक्षा है।

हिंसा, आतंक, क्रूरता, अनुशासनहीनता, चरित्र-हीनता आदि इस युग की ज्वलंत समस्याएं हैं। इन समस्याओं से कोई वर्ग विशेष ही आक्रांत नहीं रहता। युगीन परिस्थितियों का प्रभाव मात्राभेद से सभी पर होता है। वर्तमान युग की समस्याओं से निबटने का एक उपाय है शस्त्रबल। देश में स्थान-स्थान पर शस्त्रबल का प्रयोग हो रहा है। फिर भी समस्याएं घटने के स्थान पर बढ़ती जा रही हैं। दूसरा उपाय है–कानूनबल। कानून के पास अधिकार रहता है। वहां अस्त्र-शस्त्र और अर्थ–दोनों का उपयोग विहित है। जहां कानून भी अकिंचित्कर हो जाता है, तब व्यक्ति को किसी नए प्रस्थान की बात सोचनी पड़ती है।

किसी राष्ट्र का चेहरा देखना हो तो उसकी किशोर पीढ़ी का चेहरा देखना चाहिए। आज के किशोर कल के कर्णधार बनने वाले हैं। उनका निर्माण सही ढंग से नहीं हो पाया तो राष्ट्र के निर्माण का सपना साकार नहीं हो सकेगा। किशोर पीढ़ी का निर्माण करने के लिए उसके मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना जरूरी है। प्रशिक्षण के बिना मस्तिष्कीय बदलाव की संभावना बहुत कम हो जाती है। जिस देश की किशोर पीढ़ी संस्कार-निर्माण की यात्रा में एक-एक पग भी आगे रखती है तो उसका भविष्य शून्य में नहीं रहता। वह विरासत में प्राप्त संस्कारों और अपने पुरुषार्थ के बल पर विकास की निश्चित दिशा में आगे बढ़ सकती है।

भविष्य की चिंता वर्तमान से आंख मूंदने के लिए नहीं होनी चाहिए। आज की खाद जितनी प्राकृतिक और जीवन तत्त्वों से भरपूर होगी, कल उतना ही अच्छा हो सकेगा। इसलिए अतीत की स्मृति और भविष्य की चिंता से ऊपर उठकर देश की भावी पीढ़ी को न्याय देना होगा। भावीपीढ़ी के द्रुतगामी और संतुलित विकास के लिए सुचिंतित कार्यशैली पर ध्यान देने की जरूरत है। ❑

भीतर की जोत प्रकटे

आचार्य महाप्रज्ञ

एक अंधा लड़का नगर के चौराहे पर खड़ा भीख मांग रहा था। वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था–बाबूजी! एक पैसा, दो पैसा, चार पैसे दे दो, भगवान तुम्हारा भला करेगा। एक व्यक्ति वहां रुका। उस लड़के से पूछा–तुम अंधे हो। अवस्था छोटी है। पैसे क्यों मांग रहे हो? आंखें क्यों नहीं मांग लेते? उस अंधे लड़के ने गंभीर होकर कहा–बाबूजी! देने वालों के पास पैसा है, इसलिए पैसा मांग रहा हूं। उनके पास आंखें हैं ही कहां, जो मांगूं?

पैसा मिल सकता है पर आंख नहीं मिल सकती। पैसे का अपना मूल्य है और आंख का अपना मूल्य है। पैसे से साधन-सामग्री मिल सकती है, पदार्थ मिल सकते हैं, पर पैसे से शांति नहीं मिल सकती, समाधान नहीं मिल सकता। शांति और समाधान देना पैसे का काम नहीं है। जिसका जो कार्य नहीं है, वह उसका घटक कैसे हो सकता है? जिसका जो कार्य नहीं है, यदि वह उसका घटक बन जाए तो फिर सारे कार्य एक पैसे से ही संपन्न हो जाएंगे। फिर पैसे और अध्यात्म में अंतर ही क्या रहेगा? अध्यात्म का काम है शांति देना, समाधान देना और पैसे का काम है सुख-सुविधा देना। अध्यात्म का काम है चेतना को जगाना और पैसे का काम है मूर्च्छा को जगाना। दोनों के काम बंटे हुए हैं। कोई किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। दोनों के पृथक्-पृथक् कार्य हैं। दोनों अपने-अपने कार्य में पूर्ण दक्ष हैं।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं–1. अंधा 2. मूढ़ 3.चक्षुष्मान 4. दिव्य-चक्षुष्मान।

एक अंधा है। उसे बाह्य जगत दिखाई नहीं देता। दूसरा व्यक्ति अंधा नहीं है, पर मूढ़ है। मूढ़ का अर्थ है–मूर्च्छा से ग्रस्त। वैसे व्यक्ति की आंखें खुली रहती हैं, फिर भी वह कुछ भी देख नहीं पाता। वह व्यक्ति मोहग्रस्त होता है। तीसरे प्रकार का व्यक्ति है–चक्षुष्मान। वह देखता है, सोचता-समझता है। चौथे प्रकार का व्यक्ति है–दिव्य-चक्षुष्मान।

अंधा व्यक्ति कष्ट भोगता है और यह समझता है कि दुनिया उसके लिए नहीं है। मूढ़ आदमी भी कष्ट भोगता है और अत्यंत मोहग्रस्त होने के कारण कष्ट को कष्ट नहीं मानता। वह मोह में जीता है। तीसरे प्रकार के व्यक्ति के पास दो आंखें हैं,

पदार्थ जगत को देखता है, बाह्य जगत को देखता है। चर्मचक्षुओं के द्वारा दो कार्य होते हैं–पदार्थ-दर्शन और शरीर-दर्शन। दोनों मूर्च्छा पैदा करते हैं। पदार्थ-दर्शन से भी मूर्च्छा पैदा होती है और शरीर-दर्शन से भी मूर्च्छा पैदा होती है। जो व्यक्ति शरीर-दर्शन में अपनी चेतना को समेट लेता है, वह एक प्रकार से कारावास का बंदी बन जाता है। शरीर सुंदर है। उसमें आकर्षण है। शरीर में बीमारी हुई। वह विकृत हो गया। आकर्षण समाप्त हो गया। बुढ़ापे में शरीर के प्रति आकर्षण नहीं रहता। प्राचीनकाल में नगरवधुएं होती थीं। उन्हें प्रतिष्ठा मिलती थी। किंतु ज्योंही उनका यौवन ढलता तब वे कहीं की नहीं रहतीं। जहां शरीर-दर्शन के आधार पर आकर्षण होगा वहां शुद्ध प्रेम और चेतना का विकास कभी संभव नहीं होगा।

शरीर-दर्शन विचित्र प्रकार की मूर्च्छा पैदा करता है। जैसे ही यह स्थिति समाप्त होती है, एक कड़वा अनुभव होता है। बुढ़ापा, बीमारी, शरीर की विकृति आदि जब घटित होती है तब शरीर के प्रति होने वाले आकर्षण का और उस आकर्षण पर पलने वाले लोगों का बुरा हाल होता है। इससे यह सीख मिलती है कि आकर्षण रंग-रूप के प्रति नहीं, आकार के प्रति नहीं, किंतु चेतना के प्रति होना चाहिए। यह विशेष दृष्टि से ही होता है। वह विशेष दृष्टि है–'दिव्यचक्षु'। इसमें शरीर नहीं देखा जाता, किंतु आत्म-दर्शन होता है। चर्मचक्षु द्वारा शरीर-दर्शन होता है और दिव्यचक्षु द्वारा आत्म-दर्शन होता है। उससे चेतना-दर्शन और समता-दर्शन होता है। जहां चैतन्य-दर्शन की प्रधानता होती है, वहां फिर चाहे शरीर में बीमारी हो, विकृति हो, उससे कोई अंतर नहीं आता।

मैंने गांधी को देखा, विनोबा और मदर टेरेसा को देखा। उनका शरीर-सौंदर्य कुछ भी नहीं है। कृशकाय, केवल हड्डियों का ढांचा मात्र। शरीर के प्रति कोई आकर्षण नहीं। किंतु हजारों-लाखों व्यक्ति इन व्यक्तियों के पास जाते और अपनी समस्याओं का समाधान पा संतोष का अनुभव करते। गांधी और विनोबा से अत्यधिक सुंदर संसार में अनेक हैं, पर समस्या का समाधान पाने उनके पास कोई नहीं जाता। शरीर की सुंदरता और समस्या के समाधान का कोई गठबंधन नहीं है। आचार्य कुंदकुंद जैन परंपरा के महान आचार्य हुए हैं। उनकी भी शरीर-संपदा इतनी अच्छी नहीं थी। ऋषि अष्टावक्र का शरीर अत्यंत कुरूप और टेढ़ा-मेढ़ा था। वह आठ स्थानों से वक्र था। किंतु जहां कहीं ऋषियों का संगम होता वहां अष्टावक्र की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। वह इसलिए कि उनमें चेतना का प्रकाश प्रस्फुटित था।

हमें राख से प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रयोजन प्रकाश से है। हमें प्रकाश चाहिए, आलोक चाहिए। वह चेतना से ही मिल सकता है। शरीर जड़ है। उससे प्रकाश नहीं मिल सकता। जिस व्यक्ति के मन में चेतना की जिज्ञासा है, मन में आलोक और प्रकाश की जिज्ञासा है, वह जड़ का उपासक नहीं बन सकता। वह शरीर का उपासक नहीं बन सकता। वह व्यक्ति शरीर में विद्यमान ज्योति और प्रकाश की किरण का उपासक बनता है और यह दिव्य-चक्षु का काम है।

जिस व्यक्ति का दिव्यचक्षु उद्घाटित हो जाता है वह व्यक्ति आत्म-दर्शन, चैतन्य-दर्शन में जाता है। उसकी मूर्च्छा टूट जाती है। ध्यान-साधना का एक मात्र प्रयोजन है दिव्य-चक्षु को उद्घाटित करना। दिव्य-चक्षु के उद्घाटन को प्रज्ञा का जागरण कहा जा सकता है, अध्यात्म चेतना का जागरण कहा जा सकता है,तीसरे नेत्र का जागरण कहा जा सकता है। इस नेत्र के जागरण द्वारा केवल पदार्थ ही नहीं जाना जाता, उसके भीतर जो तत्त्व है, वह जान लिया जाता है। जब तक यह नहीं होता, हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होता। आज शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक समस्याएं इस चर्मचक्षु की प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न होती हैं। आदमी इन आंखों पर बहुत भरोसा करता है और इन्हीं के आधार पर चलता है। इससे राग-द्वेष बढ़ते हैं। जहां राग-द्वेष बढ़ते हैं, वहां सारी समस्याएं पैदा होती हैं।

जैसे ही दिव्यचक्षु का उद्घाटन होता है तब पहली चेतना यह जागती है कि 'मैं शरीर नहीं हूं।' उसे

अनुभव होता है–'मैं शरीर नहीं हूं' और 'मैं शरीर में हूं'। 'महलों में रहना' और दिमाग में 'महल का रहना'–ये दो बातें हैं। 'मैं शरीर हूं'–जब तक यह चेतना रहती है तब तक व्यक्ति का ध्यान शरीर-केंद्रित बना रहता है। शरीर चाहे अपना हो या दूसरे का, कोई अंतर नहीं आता। वैसा व्यक्ति शरीर के लिए ही सब कुछ करता है। वह शरीर को ही प्रधानता देता है। वहां शरीर मुख्य होता है और चेतना गौण होती है। यही शरीर-दर्शन का परिणाम है।

एक बहिन आकर बोली–'महाराज! बड़ी दुविधा उत्पन्न हो गई है। पहले हम पति-पत्नी में बहुत प्रेम था। कुछ माह पूर्व अचानक मैं जल गई। मेरा शरीर विकृत हो गया। मेरे पति का मन खिंच गया। कटुता आ गई। जलने की पीड़ा से भी शतगुणित पीड़ा आज मैं भोग रही हूं। यह सब क्यों हुआ, बड़ा आश्चर्य हुआ।'

तत्काल मेरे मन में यह विचार स्फुटित हुआ कि इस बहिन के साथ ऐसा बरताव तो होना चाहिए था। यदि ऐसा नहीं होता है तो आश्चर्य मानना चाहिए। क्योंकि पति-पत्नी के बीच वह प्रेम का आकर्षण नहीं था। वह था शरीर के प्रति अनुराग। उसे ठेस लगी और संबंध टूट गया। प्रेम अलग होता है और व्यामोह अलग होता है, मूढ़ता अलग होती है। यह सारी मूढता है। शरीर-दर्शन मूर्च्छा पैदा करता है, मूढता पैदा करता है। इसे आदमी समझ नहीं पाता। यदि इसे समझ लिया जाता है तो आदमी धोखा नहीं खाता। पहले मूर्च्छा इतनी गहरी होती है कि बात समझ में नहीं आती और जैसे ही मूर्च्छा को टूटने का मौका मिलता है तब दिव्यचक्षु ही नहीं, परम दिव्यचक्षु खुल जाता है। शरीर-दर्शन का काम है मूर्च्छा पैदा करना और मूर्च्छा का काम है धोखा देना। अध्यात्म की गहराई में गए बिना इस धोखे से बचा नहीं जा सकता।

जहां दिव्यचक्षु का उद्घाटन होता है वहां धोखा नहीं होता। कहा जाता है कि तुलसीदासजी यमुना के तट पर रामायण का पाठ करते थे। वहां लोग एकत्रित हो जाते। उन लोगों में एक व्यक्ति ऐसा भी था जो कुष्ठ-रोग से ग्रस्त था। उसका सारा शरीर झर रहा था। लोगों को बड़ा अटपटा लगता। लोग चाहते कि वह व्यक्ति न आए या जल्दी चला जाए। तुलसीदासजी को यह ज्ञात हुआ। उन्होंने कहा–'यह नहीं हो सकता। यह व्यक्ति नहीं उठ सकता।' लोगों ने सोचा–अजीब बात है। यह कोढ़ी है। इसका कोढ़ झर रहा है। तुलसीदासजी इसे मनाही क्यों नहीं कर देते? पर तुलसीदासजी का चिंतन भिन्न था। वे उसे मनाही नहीं करते। उसे आगे का अच्छा स्थान देते। एक ओर शरीर-दर्शन था, दूसरी ओर आत्म-दर्शन था, तीसरे नेत्र का उद्घाटन था।

जैसे ही रामायण का पाठ पूरा हुआ, हनुमानजी आकर तुलसीदासजी के समक्ष खड़े हो गये। यह वही कोढ़ी था, जो रामायण सुनने आता था। लोग उसे पहचान नहीं सके, तुलसीदासजी ने उसे पहचान लिया। हम दोनों दृष्टियों का अंतर समझें।

जब तक दिव्यचक्षु का उद्घाटन नहीं होता तब तक राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से नहीं बचा जा सकता। आदमी कभी भी दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता। शरीर-दर्शन के आधार पर उत्पन्न होने वाली समस्याओं से कौन आक्रांत नहीं है?

जब दिव्यचक्षु खुलता है तब आकर्षण की धारा बदल जाती है। फिर आकर्षण की धारा पुद्गल के आधार पर नहीं होती। वह होती है समता के आधार पर, चैतन्यता के आधार पर, चित्त की निर्मलता के आधार पर।

सामान्य आदमी यही समझता है कि वे भक्त लोग साधक के शरीर को देख रहे थे। नहीं, वे अपने चैतन्य के प्रति इतने समर्पित थे कि उसके सिवाय अन्य कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। चैतन्य जागरण का यही एक उपाय है। जब चैतन्य के प्रति समर्पण होता है, जब मूर्च्छाएं टूटती हैं, तब सारी समस्याएं समाहित हो जाती हैं।

इन दिनों मैंने इस प्रश्न पर गहराई से चिंतन किया है कि क्या पदार्थ और पदार्थ की मूर्च्छा तथा शरीर और

शरीर की मूर्च्छा को अलग किया जा सकता है? क्या यह संभव है? मुझे यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि पदार्थ और पदार्थ की मूर्च्छा को अलग किया जा सकता है। क्या पदार्थ में कोई मूर्च्छा है? क्या पुद्गल में कोई मूर्च्छा है? क्या शरीर में कोई मूर्च्छा है? इनमें कोई मूर्च्छा नहीं है। इनमें मूर्च्छा का आरोपण किया जाता है। मूर्च्छा का आरोपण करने वाला है–व्यक्ति। वह यदि पदार्थ या शरीर से अपनी मूर्च्छा हटा लेता है तो पदार्थ, पदार्थ रह जाता है और शरीर, शरीर मात्र रह जाता है। यह अध्यात्म का बहुत बड़ा मर्म है। जब तक यह नहीं होता तब तक हम वासनाओं को भीतर से नहीं निकाल सकते। बाहर से द्वार बंद कर देने मात्र से भीतर की गंदगी नहीं निकल जाती। इनका रेचन कैसे होता है? इनका निर्जरण कैसे होता है? इसका एकमात्र उपाय है–पदार्थ को पदार्थ की दृष्टि से देखना, पदार्थ के साथ जुड़ी हुई मूर्च्छा का प्रति-संहरण करना। यह बहुत संभव बात है। जब तक हमारा दिव्यचक्षु उद्घाटित नहीं होता तब तक हम पदार्थ का भोग नहीं करते, मूर्च्छा का भोग करते हैं। बहुत सुन्दर उक्ति है–**भोगा न भुक्ताः, वयमेव भुक्ताः** हमने भोगों को नहीं भोगा, हम ही भोगे गए।

यदि हम सूक्ष्मता से ध्यान दें तो हमें ज्ञात होगा कि घर में हम दाल-रोटी खाते हैं और किसी भोज में मिठाइयां खाते हैं–दोनों में बहुत बड़ा अंतर होता है। घर में जितनी भूख है उतना ही खाया जाता है और भोज में भूख का अतिक्रमण कर दुगुना-तिगुना खा लिया जाता है। यह बहुत बड़ा अंतर है और यह इसलिए है कि सामान्य दाल-रोटी खाने में हमारी चेतना एक प्रकार की होती है और विशेष प्रकार के भोजन करने में चेतना दूसरे प्रकार की हो जाती है। घर में भोजन करते समय चेतना पूरी जागृत रहती है, इसलिए भूख के अनुपात में भोजन किया जाता है। सहभोज में भोजन करते समय चेतना पूरी जागृत नहीं होती, इसलिए भूख का अतिक्रमण कर भोजन किया जाता है। जितनी गहरी मूर्च्छा, उतना गहरा भोजन–यह समीकरण बनता है। गहरी मूर्च्छा की अवस्था में आदमी भोजन नहीं करता, मूर्च्छा भोजन करती है। प्रत्येक पदार्थ के साथ जुड़ी हुई मूर्च्छा का हम विश्लेषण करें, उसका विवेक करें। हमें तब ज्ञात होगा कि मूर्च्छा के प्रभाव में हम कितनी प्रवृत्तियां करते हैं। इस मूर्च्छा को तोड़ना, पदार्थ को अलग करना तथा मूर्च्छा को अलग करना–यह प्रयोग के बिना नहीं हो सकता। प्रेक्षा का प्रयोग इसमें सहायक हो सकता है। रोटी खाते समय भी हम द्रष्टाभाव और ज्ञाताभाव का अभ्यास करें। यदि यह भाव प्रबल बना तो रोटी का प्रयोग भी हमारे लिए मूर्च्छा को तोड़ने वाला प्रयोग हो जाएगा।

भंवरा बांस को काटता है और कमल को डसता है। दोनों में बहुत अंतर है। बांस कठोर होता है, फिर भी भंवरा उसे छेद कर बाहर चला जाता है। कमल कोमल होता है फिर भी वह उसमें बंद हो जाता है, बाहर नहीं निकल पाता।

बिल्ली उन्हीं दांतों से अपने बच्चों को पकड़ती है और उन्हीं दांतों से चूहे को पकड़ती है, दोनों में रात-दिन का अंतर होता है।

जिन आंखों से हम रोते हैं, क्या उन्हीं आंखों से हम नहीं हंसते? रोने और हंसने की आंखें दो नहीं होती। वहां भी अंतःकरण का अंतर है। जिसका अंतःकरण बदल गया, उसके लिए सब सामान्य बन गया। जिसका अंतःकरण मूर्च्छा से ग्रस्त होता है, हर बात वासना बन जाती है। इस बात को गहराई से समझने पर ही अध्यात्म समझ में आ सकता है।

जिस व्यक्ति ने प्रेक्षा के द्वारा अपने अंतःकरण को बदलने का अभ्यास किया है, उसका दिव्यचक्षु उद्घाटित हो गया और उसकी मूर्च्छा टूट गई। उसके लिए पदार्थ, पदार्थ रह जाता है और चैतन्य, चैतन्य रह जाता है। जिस व्यक्ति ने दिव्यचक्षु को उद्घाटित करने का प्रयत्न नहीं किया, शरीर-दर्शन में लिप्त रहा, मुग्ध रहा, उसके लिए पदार्थ, पदार्थ ही नहीं रहता, वह सब कुछ बन जाता है। उसके लिए वस्तु, वस्तु नहीं रहती, वह चैतन्य बन जाती है। उसके लिए वस्तु, पदार्थ और चैतन्य का भेद नहीं रहता। ❑

तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष

धर्मसंघ की दीर्घजीविता का उपाय

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ धर्मसंघ के नौवें आचार्य हैं। वि.सं. 1817 में इस धर्मसंघ की नींव रखी गई और उसे मजबूत बनाने का प्रयत्न किया गया। इतने वर्षों में धर्मसंघ का विस्तार ही नहीं हुआ, इसमें अनेक नए-नए आयाम खुल गए और खुलते जा रहे हैं। एक धर्मसंघ के निर्माण में जिन-जिन आकांक्षाओं का होना अनिवार्य होता है, उन सबको हमारे आचार्यों ने संजोया। इससे संघीय व्यक्तित्व के उजागर होने की नई संभावनाएं प्रकट हुईं।

आचार्यश्री का युग विविधता का युग है, गतिशीलता और नवीनता का युग है। पचासवें वर्ष की देहरी पर खड़े होकर पूरे अतीत को देखा-परखा जाए तो ऐसा लगता है कि तेरापंथ धर्मसंघ का कायाकल्प हो गया है। मूलभूत आस्थाओं के दृढ़ीकरण के साथ संघ में जो नई चेतना आई है, वह एक शक्तिशाली नेतृत्व का जीवंत साक्ष्य है। आध्यात्मिक ऊर्जा के अक्षय स्रोतों की खोज में जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, वे अभूतपूर्व हैं। जनाकांक्षा के अनुरूप धर्म को जिस युगीन परिवेश में प्रस्तुति दी जा रही है, वह असाधारण है। इन सब परिवर्तनों-परिवर्धनों के बावजूद तेरापंथ धर्मसंघ की सादगी का सौंदर्य निराला है। ऐसी स्थिति में इस संघ के निर्माता आचार्य भिक्षु स्वयं धरती पर आकर इसे देखें तो शायद वे पहचान ही नहीं पाएंगे कि यह वही तेरापंथ है, जिसकी नींव उन्होंने लगाई थी।

इन शताब्दियों में धर्म के क्षेत्र में क्रांति करने वालों में आचार्य भिक्षु पुरोधा रहे हैं। आचार्य भिक्षु के समय में धर्मक्रांति की जो लहर उठी, उसे तीव्रता से आगे बढ़ाने में आचार्य तुलसी का अवदान बहुत मूल्यवान है। आचार्यश्री महान स्वप्नद्रष्टा थे। उन्होंने अपने युग में न जाने कितने और कैसे सपने देखे। अब तक देखे अधिकांश सपने पूर्णता के शिखर पर पहुंच गए। आचार्यवर ने एक नया सपना देखा था अपने धर्मसंघ को श्रमजीवी और यथार्थजीवी बनाने का।

19 अगस्त, 1985 की उजली दोपहरी में ठीक एक बजे आचार्यश्री ने साधु-साध्वियों की एक विशेष गोष्ठी बुलाई। बिना किसी औपचारिकता के साधु-साध्वियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा–'हमें अपने धर्मसंघ को दीर्घजीवी, श्रमजीवी और यथार्थजीवी बनाना है। इसकी दीर्घजीविता में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। क्योंकि आचार्य भिक्षु ने इसे ऐसा वरदान दिया है कि इसका जीवन काल बढ़ता जा रहा है। किसी भी व्यक्ति या संघ के उज्ज्वल भविष्य के लिए उसका श्रमजीवी होना जरूरी है। जो जितना श्रमजीवी होता है, वह उतना ही दीर्घजीवी होता है। अमीरी में विलासिता पनपती है, जो कि आयुष्य को घटाती हैं। जो श्रमजीवी और यथार्थजीवी होता है, वही कुछ बन सकता है या कर सकता है।'

आचार्यश्री के उक्त कथन को यहां उद्धृत करने का इतना-सा उद्देश्य है कि संघ, समाज और मानव जाति को विकास की मंगलमय राहों में अग्रसर करते हुए भी व्यक्ति-व्यक्ति को अंतर्मुखी बनाने के लिए निरंतर पुरुषार्थ करते रहे हैं। जिस धर्मसंघ के नेता स्वयं पुरुषार्थजीवी नहीं होते, वे किसी को पुरुषार्थ की प्रेरणा

कैसे दे सकते हैं? आचार्यश्री ढलती उम्र में भी प्रातः चार बजे से रात के दस-ग्यारह बजे तक अनवरत श्रम करते हैं। उनकी श्रमशीलता को देखकर ऐसा लगता कि वे पूर्ण यौवन में हैं।

आचार्यश्री समाधायक थे। छोटी-बड़ी हर समस्या के प्रति वे जागरूक थे। यही कारण है कि चिंतनशील व्यक्ति समसामयिक सवालों के उत्तर उनसे पाना चाहते। उनसे प्रबुद्ध समाज को बहुत उम्मीदें थी। वे कभी किसी को निराश करने की बात सोच ही नहीं पाते। संसार की सब आशाओं और अपेक्षाओं का ध्रुवीकरण कर उन्होंने अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान के नाम से जो तत्त्व दिए हैं, एक महान क्रांति के बीज इनमें छिपे हुए हैं।

बीसवीं सदी का आदमी हवा में उड़ने लगा है, चांद पर चहलकदमी करने लगा है, ग्रह-नक्षत्रों की दुनिया में झांकने लगा है, यंत्र-मानव (रोबोट) का निर्माण करने लगा है, अपनी अधिकांश समस्याओं का समाधान कंप्यूटर से पाने लगा है और अणु को तोड़कर ऊर्जा का अक्षयस्रोत खोजने में सफल होने लगा है। फिर भी वह इतना दुर्बल है, अशक्त है, असहाय है कि कुछ ही पलों में उसकी जिंदगी नामशेष हो सकती है। इस त्रासदी की भयावह सचाई का जब कभी अनुभव होता है, मनुष्य भीतर और बाहर से कांप उठता है।

ऐसी परिस्थिति में जबकि सारा संसार यंत्रजीवी और अयथार्थजीवी हो रहा है, एक छोटा-सा धर्मसंघ पुरुषार्थजीवी और यथार्थजीवी होकर क्या कुछ नया कर पाएगा? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसको उत्तरित करने के लिए 'इकोलॉजी' के सिद्धांत को समझना होगा। इकोलॉजी के अनुसार इस संसार में कहीं वृक्ष का एक पत्ता भी टूटता है, उसका प्रभाव ज्ञात-अज्ञात रूप से सब पर होता है। उसी प्रकार कहीं पर कोई समुदाय या व्यक्ति बदलता है तो उसका फायदा भी सारे संसार को मिलता है। हम किसी और का भला कर सकें या नहीं अपना भला करें। इससे संघ और संसार का भला स्वयं होता रहेगा।

पुरुषार्थजीवी होने का अर्थ है–सुविधावादी मनोवृत्ति से ऊपर उठकर श्रम में विश्वास करना और अपनी शक्ति का गोपन किए बिना कर्म में प्रवृत्त रहना। साधु बनने के बाद भी यंत्रयुग की सुविधाओं में मन अटक जाएगा तो पुरुषार्थ की पूजा नहीं हो सकेगी। सारा संसार यांत्रिक जीवन जीने लग जाए, फिर भी साधु-संस्थाओं की सांस्कृतिक और सामाजिक जरूरतें कभी यंत्रों पर निर्भर नहीं हो सकतीं। इस दृष्टि से श्रम को अतिरिक्त मूल्य देने की जरूरत है।

यथार्थजीवी शब्द साधु को उपचारों की दुनिया से बाहर निकालकर वास्तविकता की ठोसता को अनुभव करने की दिशा देता है। उपचारों में जीने वाला व्यक्ति तथाकथित हो सकता है, तथारूप नहीं। जैन आगमों में एक शब्द आता है–**तहारूवे समणमाहणे**। तथारूप शब्द यथार्थजीवी का बोधक है। जो व्यक्ति साधु का जीवन स्वीकार करके भी साधुत्व को जीता नहीं है, वह तथाकथित साधु तो हो सकता है, पर इससे आगे कुछ नहीं हो सकता। आचार्यवर ने इस संदर्भ में साधु-साध्वियों को उद्‌बोधन देते हुए कहा–'हम साधु बने हैं, पर किसी के दबाव या प्रभाव से नहीं, अपने विवेक से बने हैं। विवेक से होने वाला काम औपचारिक नहीं हो सकता। साधुत्व हमारी साधना है, मंजिल नहीं है। हमारी मंजिल है–वीतरागता। वीतराग बनने के लिए दृष्टिकोण को निरंतर आध्यात्मिक बनाए रखना जरूरी है। धर्मशासना के पचासवें वर्ष में मैं अपने धर्मसंघ में एक विशेष मोड़ देखना चाहता हूं। वह मोड़ नितांत आध्यात्मिक हो। आध्यात्मिकता, श्रमशीलता या यथार्थजीविता हमें विरासत में प्राप्त हैं। हम इसकी उपेक्षा न करें, इनमें कुछ अधिक उत्कर्ष लाएं, यह अपेक्षा है।'

आचार्यवर के इस स्वप्न को रूपायित करने के लिए हमें कुछ नया नहीं करना पड़ेगा। हमारे मनों पर आधुनिक युग का जो प्रभाव बढ़ रहा है, उसे उतार कर फेंकने भर की जरूरत है। यदि ऐसा हुआ तो तेरापंथ धर्मसंघ पुरुषार्थजीवी और यथार्थजीवी बनकर स्वाभाविक रूप से दीर्घतर और दीर्घतमजीवी बन जाएगा। ❑

विराट एवं प्रखर : आचार्यश्री तुलसी

मुनि सुमेरमल, लाडनूं

व्यक्तित्व के दो स्वरूप होते हैं–शारीरिक और आंतरिक। इनकी चतुष्पदी भी बन जाती है :

- शारीरिक कद उन्नत, आंतरिक व्यक्तित्व अवनत
- शारीरिक कद अवनत, आंतरिक व्यक्तित्व उन्नत
- शारीरिक कद अवनत, आंतरिक व्यक्तित्व भी अवनत
- शारीरिक कद उन्नत, आंतरिक कद भी उन्नत

महापुरुष दूसरे और चौथे विकल्प के अंतर्गत आ जाते हैं। महापुरुषत्व में शारीरिक व्यक्तित्व का कोई स्थायी मूल्य नहीं। आंतरिक व्यक्तित्व की विराटता ही सब कुछ है। युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी कद से वामन और व्यक्तित्व से विराट थे। शारीरिक सौष्ठव भी गजब का था। आंखों की तेजस्विता व बनावट विरले व्यक्तियों में ऐसी मिलेगी। कानों की भव्य बनावट लाखों में किसी एक में मिलेगी। शरीर का हर अवयव प्रमाणोपेत व नयनाभिराम था। देखने वाले की आंखें वहीं टिक जाती थीं, विशेष भव्यता के दर्शन होते थे।

उनकी आंतरिक विराटता का अंकन कर पाना कठिन है। एक व्यक्ति में इतने गुणों का होना अपने आप में आश्चर्यजनक है। आचार्य होना अलग बात है, उदात्त होना बहुत ही कठिन है। उसमें भी किसी समुदाय के आचार्य बनकर उदात्त व उदार बनना असंभवप्राय है। सामान्यतया आचार्य के चिंतन की परिधि अपने संप्रदाय-परिवेश तक ही सीमित रहती है। अपने शिष्यों व भक्तों के बीच में रहना उनकी आदत-सी बन जाती है।

आचरण शुद्धि

आचार्य तुलसी एक ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने अपनी परिधि में रहकर परिवेश के बाहर का चिंतन किया। मानव मात्र के कल्याण की कल्पना को आकार देने का प्रयास किया। धार्मिक व्यक्ति धर्म को जीने वाला बने, इसका प्रबल पुरुषार्थ किया। अणुव्रत आंदोलन का प्रारंभ उन्होंने इसी उद्देश्य से किया। उनकी दृष्टि में धर्म मुख्य है,

संप्रदाय गौण है। धर्म गंगा की धारा है, संप्रदाय धारा तक जाने का घाट है। क्रिया-उपासना से पहले आचरण को ठीक करना जरूरी है। असद् आचरण वाले के धर्म की क्रिया को उन्होंने अभिनय बतलाया। दिखावा व दंभ कह कर पुकारा। आचरण की पवित्रता प्रारंभ में चाहिये। वे कहते थे–आचरण अंक है, उपासना उसके आगे लगने वाली बिंदिया (शून्य) है। अंक के आगे लगने वाली प्रत्येक बिंदी अंक को दस गुणा कर देती है। अंक बिना की बिंदियों का कोई मूल्य नहीं। कई बार आचरणहीन उपासना धर्म का मखौल करवा देती है। आज से पचास वर्ष पूर्व आचरण-शुद्धि का आंदोलन उन्होंने प्रारंभ कर दिया था।

जीवन का रूपांतरण

'अणुव्रत' आचार्य तुलसी के शब्दों में मानव धर्म है, संप्रदायमुक्त धर्म है। एक बार उनसे पूछा गया था–अणुव्रत को ग्रहण करने में आपकी क्या शर्त है? क्या धर्म व गुरु को बदलना पड़ता है। उन्होंने स्वयं कहा–अणुव्रत के लिये जीवन बदलना जरूरी है, व्यसन छोड़ना जरूरी है। इसे ग्रहण करने के लिये न तो धर्म बदलने की जरूरत है, न ही गुरु बदलने की। धर्मांतरण को वे कभी महत्त्व नहीं देते थे। उनका विश्वास जीवन के रूपांतरण में था। यही कारण था उनके इस कार्यक्रम को असांप्रदायिक आंदोलन के रूप में मान्यता मिल गयी थी। देश की अणुव्रत समितियों के अधिकतर अध्यक्ष व मंत्री अजैन व्यक्ति बनते रहे हैं।

समन्वय के संवाहक

एक संप्रदायविशेष के आचार्य होकर भी वे धर्म समन्वय के प्रबल हामी थे। स्थान-स्थान पर समन्वयपरक कार्यक्रम करते। उनमें सभी धर्मों के लोग आते व साथ में प्रवचन करते। इससे लोगों की कट्टरता में कमी आती। आचार्यश्री स्वयं मंदिरों में गये, मसजिद में गये, दरगाह में गये। गुरुद्वारा, चर्च सभी जगहों में गये। एकता की बात कही। उनका कहना था–मतभेद होना बुरा नहीं, मनभेद होना बुरा है। सभी धर्मों की अस्सी-नब्बे प्रतिशत बातें एक-सी हैं, फिर दस-बीस प्रतिशत के लिये लड़ना कौन-सी बुद्धिमानी है? वे जहां जाते भाईचारे पर बल देते, मैत्री पर जोर देते। देश की एकता में उनकी बहुमूल्य सेवाएं रही थीं। राजीव-लोंगोवाल समझौता उन्हीं के प्रयत्न से हुआ था। उन्हें सन् 1992 में 'इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। उन्होंने अंतिम क्षण तक एकता पर काम किया। यही कारण है कि उनके पास हर धर्म व वर्ग के व्यक्ति बेझिझक आते, मार्गदर्शन लेते। मुंबई में एक भाई मेरे पास आया। अपना परिचय देते हुए कहा–मेरे गुरु आचार्यश्री तुलसी हैं, मेरा धर्म-संप्रदाय मूर्तिपूजक जैन है। उसने कहा–मैंने इतने उदार विचार वाले किसी धर्मगुरु को नहीं देखा। गुरुदेव कद से छोटे, पर व्यक्तित्व से विराट थे।

इतने बड़े आचार्य होते हुए भी कहीं अहं का प्रदर्शन नहीं। उनकी रहने में सादगी, भाषा में सहजता, व्यवहार में सरलता, सबके साथ मिलनसारिता आदि विशिष्ट-अविशिष्ट, साक्षर-निरक्षर सभी को प्रभावित करती थी। वकीलों की वरिष्ठ सभा में वे इतनी प्रभावकता से बोलते कि हर बुद्धिजीवी उनकी वाणी से, विचारों से, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। देहाती लोगों के बीच में भी वे इतनी सहजता और देहाती लहजे में बोलते कि हर देहाती की आत्मीयता जुड़ जाती। जहां जाते मेला-सा लग जाता था। उनका अणुव्रत मिशन सबके लिये था।

दिन भर व्यस्त रहते हुए भी अपनी चर्या के प्रति जागरूक रहते थे। प्रातः जल्दी उठना, फिर ध्यान, जप, स्वाध्याय करना। योगासन व प्राणायाम नियमित करना। जनता के बीच में रहते हुए भी अपने प्रति जागरूक रहते। उनका खाद्य-संयम तो गजब का था। वर्षों तक चीनी का प्रयोग नहीं किया। उनके चरित्रमूलक तेजस्वी आभामंडल में जो भी आ जाता, उनका बन जाता। विरोध करने वाले भी मानते थे कि उनका व्यक्तित्व बेजोड़ है। उनके चरित्रमूलक व समन्वयमूलक कार्यक्रम को आगे बढ़ायें, यही हम सबका समन्वित प्रयास होना चाहिए। ❑

बदले युग की धारा

साध्वी सुनन्दाश्री

वक्त की कोख से जन्म लेने वाला एक पल अगले पलों से संबद्ध होकर सफर करते-करते एक दिन शताब्दी में बदल जाता है। शताब्दी तक पहुंचने के लिए उस पल को दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष और युग—न जाने कितने-कितने रूपों में ढलना पड़ता है। 'पल' इस परिवर्तन को तो नैसर्गिक रूप से स्वीकार कर लेता है परंतु अन्य परिवर्तनों को पल, वर्ष या युगधारा आसानी से झेल नहीं पाते।

वस्तुत: युगधारा कोई नदी का प्रवाह नहीं, जिसकी दिशा आसानी से बदल दी जाए। नदी की धारा को मोड़ने का प्रयत्न कोई कर सकता है लेकिन युग-धारा को मोड़ने का भगीरथ प्रयत्न वही कर सकता है जिसकी नस-नस और रोम-रोम में जनकल्याण और मानव-उत्थान की करुण रसधारा प्रवाहित होती हो और जो विरोधी बवंडरों में भी अपने चिंतन के नीड़ को सुरक्षित रखना जानता हो।

बीसवीं सदी के शताब्दी पुरुष, युगद्रष्टा राष्ट्रसंत आचार्य तुलसी भी ऐसे ही विराट व्यक्तित्व के धनी थे, जिनके जमीनी सपने 'अणुव्रत' ने युगीन संदर्भों में परिवर्तन की नई-नई रेखाएं खींची।

जैसे हजारों मील की यात्रा की शुरुआत एक नन्हे कदम से होती है वैसे ही युग में नया दौर लाने से पहले मानवता के मसीहा आचार्य तुलसी ने स्वयं को तथा आस-पास के परिवेश को बदला। नेतृत्व की कमान संभालते ही उन्होंने धर्मसंघ के चारों अवयवों का रूप संवारा। युगधारा में सृजन का रंग भरने के लिए सर्वांगीण व्यक्तित्व संपन्न साधुओं की कतार खड़ी की। ककहरे से अनभिज्ञ साध्वी समाज को परिश्रम और प्रोत्साहन के द्वारा युग की धड़कनों में नव स्पंदन भरने योग्य बनाया। श्रावकवर्ग पर अपनी पारखी नजरें टिकाकर उन्हें अपनी योजनाओं में सहभागी बनाने के लिए प्रशिक्षित किया। रूढ़ियों में जकड़ी आधी दुनिया को नई उड़ान भरने के लिए अनुशासन के पंखों के साथ प्रगति का खुला आकाश दिया।

आस-पास का परिवेश बदलकर उन्होंने युग की नब्ज पकड़ी। उन्हें अनुभव हुआ कि युगधारा को प्रतिस्रोतगामी बनाना है तो वर्ग-विशेष या संप्रदायविशेष को नहीं बल्कि धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति, शिक्षानीति और अर्थनीति—इन सभी चित्रों में परिवर्तन का रंग भरना होगा। मगर बदलाव हो कैसे? सदियों से जमी हुई आस्थाएं और परंपराएं धातु की तरह पिघलाई तो जा सकती है मगर कांच की तरह तोड़ी नहीं जा सकतीं। इस सचाई का अनुभव कर वे हर क्षेत्र को मानवीय दुर्बलताओं से मुक्त करने के लिए अपने सपनों को 'अणुव्रत' का परिधान पहनाकर जनता के बीच उतर आए।

व्रत को केंद्र बनाकर उन्होंने धर्म को ग्रंथों-पंथों से बाहर निकाला और उसे जीवन व्यवहार में उतारने की प्रेरणा दी। उनका विश्वास था कि धर्म पवित्र अंत:करण में ही विराजमान होता है, इसलिए जन-जीवन को पवित्र बनाने के लिए उन्होंने कहा–धर्मस्थान में धर्म करो, कोई बड़ी बात नहीं। महत्त्वपूर्ण बात है–दैनिक व्यवहार में धर्म को जीना। यही धर्म का मौलिक एवं शाश्वत स्वरूप है।

समाजनीति के अंतर्गत पारिवारिक एवं सामाजिक स्वस्थता के लिए नशा मुक्ति एवं नारी-जागृति अभियान का व्यापक कार्यक्रम बनाया। समाज में व्याप्त कुरूढ़ियों-मृत्युभोज, प्रथारूप में रोना, दहेज, ठहराव, विवाह, तपस्या आदि पर होने वाले वृहद भोज, आडंबर, प्रदर्शन आदि विषयों पर आचार्य तुलसी ने 'नया मोड़' नाम से एक समाजव्यापी उपक्रम चलाकर स्वस्थ समाज की संरचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

राजनीति को शुद्ध राजनीति बनाने के लिए आचार्य तुलसी ने राजनेताओं से संपर्क साधा और उन्हें प्रतिबोध दिया। चुनाव शुद्धि पर बल दिया। पद के उम्मीदवारों और मतदाताओं को अपने-अपने दायित्व और कर्तव्य से परिचित कराया। देश के नैतिक उत्थान हेतु आचार्य तुलसी सर्वतोभावेन समर्पित रहे।

शिक्षानीति में बदलाव लाने के लिए आचार्य तुलसी ने विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया–जीवन विज्ञान के रूप में। इस शिक्षा-प्रणाली के माध्यम से बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास के साथ-साथ व्यक्तित्व निर्माण के अन्य आयामों पर भी बल दिया। अध्यात्म को विज्ञान के सांचे में ढाल कर और प्रायोगिकता का आधार देकर युग की मुख्य धारा के साथ जोड़ा ताकि आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व निखर कर सामने आ सके।

अर्थनीति की धारा में परिवर्तन लाने के लिए आचार्य तुलसी ने व्यापारियों, व्यवसायियों, उद्योगपतियों और पूंजीपतियों में संयम की चेतना जगाने का प्रयत्न किया। उन्हें इच्छाओं पर नियंत्रण की शिक्षा दी। उच्चवर्ग को उद्‌बोधन दिया कि वे संतोषी बनें निम्नवर्ग स्वयं उनके पीछे चलेगा। अन्यथा देखा-देखी और स्पर्धा नहीं मिट सकती। जीवन के क्षणों में शांति की स्थापना करने के लिए उन्होंने 'संयम: खलु जीवनम्' का उद्‌घोष दिया।

आचार्य तुलसी क्रमिक सुधार के समर्थक थे। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सुधार से वे युग-परिष्कार की कल्पना करते थे। अणुव्रत आंदोलन युगीन समस्याओं का समाधान था, इसलिए उसने युग चेतना को प्रभावित किया। जन-जन को अणुव्रती बनाने के लिए आचार्यश्री ने हजारों किमी. की पदयात्रा कर लाखों लोगों से साक्षात्कार किया तथा छोटे से छोटे और बड़े से बड़े शिक्षित व्यक्ति को अणुव्रत की प्रासंगिकता बताई। अणुव्रत का हार्द समझाया। झुग्गी-झोपड़ी से लेकर वे त्रिमूर्तिभवन और राष्ट्रपति भवन तक पहुंचे। अनेक कठिनाइयों और विरोधों के तूफानों को सहकर भी उन्होंने जनता को प्रकाश देने का भरसक प्रयत्न किया। इस तड़प के पीछे एक ही उद्देश्य था–जन कल्याण, चरित्र-विकास और आत्मोदय। इसी उद्देश्य की लौ को प्रज्वलित कर उन्होंने लिंग, रंग व जाति-भेद से ऊपर उठकर हर वर्ग, हर कौम के साथ अपनापन का नाता जोड़ा, जिससे उनके संपर्क में आने वाला हर व्यक्ति उनके भीतर महात्मा गांधी को देख सका और युगधारा में परिवर्तन लाने का हिस्सेदार बन सका।

भविष्य की सीढ़ियों पर आरोहण करते समय आचार्य तुलसी की इस उजली और अलौकिक विरासत के द्वारा हम भी युग की धड़कनों में परिवर्तन की स्वच्छ रसधारा प्रवाहित करते रहें, यह अपेक्षित है। इसके लिए हमारे नेत्रों को बोलना सीखना होगा। वाणी को सुनना सीखना होगा और मन को देखना सीखना होगा। तभी हम अणुव्रत के उजालों को विश्व-भूमि पर प्रसृत कर सकेंगे। ❑

समयज्ञ को प्रणाम

साध्वी शुभ्रयशा

प्रसिद्ध लेखक आनर्ल्ड बैनेट ने एक पुस्तक लिखी है–'हाऊ टू लिव ट्वन्टि फोर आवर्स ए डे।' समय के साथ जीवन प्रबंध पर लिखी गई यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। बैनेट की मान्यता है कि यदि एक दिवस का संपूर्ण उपयोग संतुलित ढंग से किया जाए तो जीवन में आनंद की वर्षा हो सकती है। समय का विवेकपूर्वक नियोजन करने से समय स्वयं समयज्ञ का अभिनंदन करता है।

एक ऐसे ही समयज्ञ पुरुष थे आचार्य तुलसी। आपने समय की नब्ज को पहचाना और समय ने भी प्रलंब जीवनकाल में आपको एक के बाद एक उपलब्धियों के उपहार दिये। क्योंकि आपने भगवान महावीर की वाणी **समयं गोयम मा पमायए** को आत्मसात किया।

डॉक्टर नथमल टांटिया के शब्दों में–'पूज्य गुरुदेव तुलसी से मेरा संपर्क पचास वर्ष से भी अधिक था। इस लंबी अवधि में मैंने उनमें कभी प्रमाद नहीं देखा। विश्व के इतिहास में ऐसे अप्रमादी पुरुष शायद ही हुए हों। यूं तो भगवान महावीर की बुद्धि आदि के बारे में अनेक तथ्य ज्ञात हैं किंतु हमारा यह ज्ञान परोक्ष है। पूज्य गुरुदेव तुलसी में हमने यह अप्रमाद अपनी आंखों से देखा है।' ये विचार अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त उस विद्वान के हैं जिन्होंने समय को मुट्ठी में बंद करने की कोशिश की। गतिशील कालचक्र को थामने में जीवनभर पुरुषार्थ करते रहे।

विवेकानंद ने कहा–'जीवनशैली में समय का सम्मान सर्वोच्च है।' आचार्य तुलसी ने जीवन को इंद्रधनुषी बनाने के लिए समय में इंद्रधनुषी रंग भरे। इंद्रधनुष के सात रंग होते हैं। सभी का अपना महत्त्व है। वैसे ही जीवन के भी सात आयाम हो सकते हैं– 1. शारीरिक 2. मानसिक 3. शैक्षणिक व बौद्धिक 4. आध्यात्मिक 5. संघीय 6. सामाजिक 7. राजनीतिक। आचार्य तुलसी 86,400 सेकंड का नियोजन ऐसे करते जिसमें सभी आयामों का समावेश हो जाता था।

1. शारीरिक आयाम

आचार्य तुलसी ने शरीर को कम महत्त्व नहीं दिया। वे इस बात से वाकिफ थे कि मूल्यवान शरीर में अमूल्य आत्मा निवास करती है। इस स्पष्ट दृष्टिकोण के साथ आपने शरीर के लिए समय का नियोजन किया। आसन, प्राणायाम, भ्रमण आदि को जीवनशैली का अंग बनाया। मुक्ति प्राप्त करने की अर्हता वाली इस देह का बहुत ही जागरूकता से संपोषण किया।

भारतीय परंपरा का इतिहास भी इस तथ्य को प्रकट करता है–कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुंशी के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कृष्णावतार में प्रसंगतः बताया गया है कि भगवान श्रीकृष्ण ने द्वारकावासियों के लिए यह अनिवार्य कर दिया कि वे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए प्रचुर समय दें, चाहे वह दंड-बैठक, व्यायाम, दौड़ या चक्की पीसने के रूप में ही क्यों न हो। आचार्य तुलसी ने शरीर-धर्म को निभाया और अपने धर्मसंघ के लिए ध्रुवयोगों की साधना का एक क्रम दिया, जिससे शरीर ऊर्जस्वल बन सकता है।

2. मानसिक आयाम

आचार्यश्री तुलसी ने मन के अमन के लिए समय का नियोजन कर समय को अधिक कीमती बना दिया। सत्साहित्य का वाचन, सद्विचार और सद्चिंतन के लिए नियमित, निश्चित समय लगाकर अप्रशिक्षित मन को प्रशिक्षित किया। उसे हर स्थिति में शांत रहने का अभ्यास दिया। सागर में ऊर्मियों की तरह ऊर्मिल मन को इतना प्रशिक्षित किया कि वह रायपुर जैसे अग्निपरीक्षा कांड में भी मेरु की तरह अडोल, अकंप रहा। मन के कार्य स्मृति, चिंतन और कल्पना को श्रेष्ठता प्रदान की। मन की सम्यग् आराधना कर उसे स्वस्थ, प्रसन्न व स्फूर्त बनाने के लिए मिताहार, मितभाषण व इंद्रिय संयम के प्रयोग किए। मन रूपी अश्व को योजनाबद्ध तरीके से दौड़ाया, समय पर उसकी लगाम खींच कर उसे विश्राम भी दिया।

3. शैक्षणिक व बौद्धिक आयाम

तेरापंथ धर्मसंघ में A.B.C. से विश्वविद्यालय तक की यात्रा का सारा श्रेय आचार्य तुलसी के काल को माना जाएगा। जो समय पर बुद्धि का दोहन करना जानता है वह अपने समय को श्रेष्ठ व सफल बना लेता है। आप बुद्धि को कामधेनु बनाने में सफल हुए। एक समय था, विक्रम संवत 1993, जब गंगापुर में आपने आचार्य पद के दायित्व को संभाला था और एक समय था विक्रम संवत 2054, सुजानगढ़ में जब आपने आचार्य पद का विसर्जन किया। कितना अंतर था उस समय के तेरापंथ में और इस समय के तेरापंथ में।

आपने आगम संपादन, साहित्य-सृजन कर एक नया कीर्तिमान बनाया। आचार्य कालूगणी द्वारा प्राप्त शिक्षा के बीज को पल्लवित, पुष्पित किया। आपने शैक्षणिक विकास की दृष्टि से समय लगाया तभी तेरापंथ धर्मसंघ का साधु-साध्वी, समणिवर्ग एवं मुमुक्षु वर्ग बौद्धिक क्षेत्र में आगे बढ़ सका। संघ को आचार्य महाप्रज्ञ जैसे प्रज्ञावान आचार्य का वरदान मिल सका। साध्वीप्रमुखा जैसी कुशल लेखिका का निर्माण हो सका। बौद्धिक विकास के लिए आपने कब, कैसे, कितना समय लगाया, इसका लेखा-जोखा करना कठिन है। किंतु आज सारा विकास प्रत्यक्ष है। संघ में लेखन, पठन-पाठन, संपादन व सृजन की जो लहर दिखाई दे रही है, उसमें आपश्री का ही समय और श्रम मुखर हो रहा है। आपका शिक्षण, प्रशिक्षण, परीक्षण और समीक्षण समय के भाल पर रचा गया स्वस्तिक था जिससे संघ में मंगलमय नव्यता, भव्यता और कलात्मकता का विकास होता रहा।

4. आध्यात्मिक आयाम

• जो स्वभाव, समभाव में रहता है वह आध्यात्मिक विकास कर सकता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक विकास करने वाला आत्मा के आस-पास रहता है। इसलिए आचार्य तुलसी ने कहा–

प्रथम व्यक्तिगत साधना, गण विकास सायास।
सार्वजनिक कल्याण फिर, जब भी हो अवकाश।।

आध्यात्मिक विकास को पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित करने के लिए अपने कर्म को साधा, कर्मयोगी बने। मन को साधा, मनयोगी बने और स्वरयंत्र को साधकर वचन-योगी बने। आचार्य बनने के बाद आध्यात्मिक उन्नयन के लिए विविध प्रयोग सघनता से प्रारंभ कर दिए। कभी आप रसनेंद्रिय विजय का प्रयोग करते, तो कभी शीत-उष्ण परीषह को सहन कर आत्मतोष का अनुभव करते। समय-समय पर ध्यान, जप, तप व अनुप्रेक्षा के विशिष्ट प्रयोग करते।

प्रयोग के बाद जब आप अपने अनुभव डायरी में लिखते तो अंत में लिखते...'बड़ा आनंद है। इस बार पर्युषण में सिर्फ सात द्रव्य लगे...कुछ मन पर काबू जरूर रखना होता है। बाकी बड़ा आनंद रहता है। चातुर्मास में शायद तीन विगय से अधिक न लगी...आगे...बाकी बड़ा आनंद है।'

वास्तव में हर प्रवृत्ति या निवृत्ति के बाद जो आनंदानुभूति होती है वही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा है।

आपका स्पष्ट दृष्टिकोण था–व्यवहार में सबके साथ रहो, निश्चय में अपने पास रहो। आप पूर्व-रात्रि व पश्चिम-रात्रि में काफी समय स्वाध्याय, आत्मचिंतन व आत्मसमीक्षा में लगाते। भावक्रिया से युक्त दैनंदिन के क्रिया-कलाप संपादित करते।

5. संघीय आयाम

संघीय दायित्व का सम्यक निर्वहन कर आपने अपने कर्तृत्व को उजागर किया, नेतृत्व को सफल व आरोही बनाया। वि. सं. 1993, गंगापुर भाद्रपद शुक्ला नवमी को संघ के नाम आप द्वारा दिया गया प्रथम संदेश प्रेरक एवं ऐतिहासिक था–

'सभी साधु-साध्वियां अपने शासन की नियमावली का हृदय से पालन करें। मैं पूर्वाचार्य कालूगणी की तरह सबकी अधिक से अधिक सहायता करता रहूंगा। ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है।'

आचार्य तुलसी गंगापुर, वि. सं. 1993

संघीय विकास के लिए आपने जो समयदान दिया उसकी कमनीय कीर्तिगाथा आने वाला युग लिखेगा। तेरापंथ को संप्रदाय की शाखा, उपशाखा मानने में भी कठिनाई होती थी। वही तेरापंथ जैन धर्म का पर्याय बन गया।

चतुर्विध धर्मसंघ का चहुंमुखी विकास करने के लिए शिक्षा, सेवा, साधना, योग, ध्यान व प्रशिक्षण के अनेक आयाम संघ को दिए। महासभा, अन्य संस्थाएं, युवक परिषद्, महिलामंडल, कन्यामंडल, किशोरमंडल, अणुव्रत न्यास, अणुव्रत संसद, जय तुलसी फाउंडेशन, विकास परिषद् आदि संस्थाओं को विकास का प्लेटफार्म देकर उनका नैतिक व धार्मिक पथदर्शन भी करते रहे। आपके शासनकाल में सजी संवरी हुई ये संस्थाएं धर्मसंघ व समाज के लिए एक धरोहर बन गईं।

6. सामाजिक आयाम

आचार्य तुलसी ने सामाजिक विकास के लिए अपने समय का विसर्जन किया। तेरापंथ को एक नई पहचान दी। सामाजिक कुरूढ़ियों को दूर करने के लिए आप नैतिकता का ध्वज लेकर घर-घर, गांव-गांव घूमे। कभी छोटी पगडंडियों पर चले, तो कभी रेतीले टीलों पर। अणुव्रत का शंखनाद करते हुए कभी नंगे पैर राजमहलों में पहुंचे तो कभी झोपड़ी में ठहरे। सृजनात्मक कार्यों की दृष्टि से समाज का कायाकल्प किया। छुआछूत, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा व महिला उत्थान के लिए अनेक प्रयत्न किये। नया मोड़ से नारी जागरण का संदेश दिया। मेवाड़-मारवाड़ के क्षेत्रों में मृत्यु पर काले वस्त्रों का परित्याग करवाना धर्म का उजला पृष्ठ था। विशेषकर नारी की सृजन-दृष्टि को जगाया और उसे अपनी अस्मिता की पहचान कराई।

हर वर्ग, जाति, संप्रदाय के लिए अणुव्रत की मशाल जलाई। समाज में नैतिक जागरण हो, इसके लिए आपने लगभग एक लाख किलोमीटर की यात्राएं कीं। समाज को कुरूढ़ियों से मोड़ा, सद्प्रवृत्तियों से जोड़ा और मानसिक दासता को तोड़ा। प्रवचनों के माध्यम से वैश्विक स्तर पर धर्म को नया परिवेश दिया। हजारों लोगों ने नशामुक्त जीवन जीने का संकल्प किया। कितने व्यापारी, विद्यार्थी, सरकारी कर्मचारी बदले इन सबका संकलन करना कठिन है। जब आप संगीत की स्वर लहरी से संबोध फरमाते–

धार्मिक है पर नहीं कि नैतिक,
बहुत बड़ा विस्मय है,
नैतिकता से शून्य धर्म का
यह कैसा अभिनय है।

प्रवचन सभा में हजारों-हजारों लोग खड़े होकर बुराइयों को छोड़ने की शपथ ग्रहण करते और कहते–

बाबा प्रणाम, हम हैं हराम।
बनाया है तुमने हमको राम।।
तुलसी राम तेरी सत्संग से
हम बन गये घनश्याम।

सामाजिक उत्थान के लिए आपने विलक्षण कार्य किया। समाज में अच्छाई के पलड़े को वजनदार बनाने में जीवन भर कार्य किया।

7. राजनीतिक आयाम

विनोबा भावे ने कहा था–'जीते वे हैं जो दूसरों के लिए जीते हैं, बाकी तो मरे हुओं के समान हैं।' राजनीतिक लोग वास्तव में दूसरों के लिए जीने का वादा करते हैं। वास्तव में वे अपने हितों की सुरक्षा के लिए अपने कर्तव्य की भी इतिश्री कर देते हैं। ऐसे लोगों को आपने बोध-पाठ दिया। पंजाब के आतंकवाद की समस्या का समाधान करने के लिए लोंगोवाल और राजीव गांधी समझौते का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1994 में संसद के गतिरोध को खत्म किया। अंतिम समय तक राजनेताओं में नैतिकता के संस्कार पुष्ट करते रहे।

आपके जीवन की अंतिम रात 22 जून को बलराम जाखड़ के साथ हुआ संवाद इन्हीं विचारों को पुष्ट करता है। समय-समय पर अनेक राजनेता मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए श्रीचरणों में उपस्थित होते थे। विचार-विमर्श के बाद अंतस्तोष का अनुभव करते। आपका ऐसा मानना था–'संयमी नेता सफल नेता होता है।'

आचार्य तुलसी ने जीवनभर समय का अंकन किया। 16 जून.... डायरी से यह बात स्पष्ट है–....बहुत काम किया है। ....अब संथारा संलेखना हो तो अच्छा रहे। संतुष्टिपूर्ण वाक्य वही लिख सकता है जो जीवन के सभी आयामों को सफलतापूर्वक जीता है। अन्यथा शेक्सपियर की तरह अंतिम समय में यह कहना पड़ता है 'उफ! मैंने समय को नष्ट किया– अब समय मुझे नष्ट कर रहा है।'

सतरंगी जीवन के सतरंगी आयामों की व्याख्या करते-करते मेरा मन आनंद की वर्षा से भीगने लगा है। धन्य हैं ऐसे गुरु जिनके शिष्य बनने का सौभाग्य हमें मिला। हमारे पथ के कांटे बुहार कर उन्होंने साधना के मार्ग में फूल बिछाने में समय का नियोजन किया। उन्होंने केवल अपनों का पथ ही उजालों से नहीं भरा, संपूर्ण मानवता के पथ में नैतिकता के दीप जला दिए।

ऐसे समयज्ञ पुरुष को प्रणाम! ❑

'आचार्यश्री का जीवन आध्यात्मिक तथ्यों के परीक्षण की एक विशाल प्रयोगशाला था। बोल-चाल, रहन-सहन, बात-व्यवहार, खान-पान आदि में संयम का अनुत्तर विकास किया जाए, यह प्रश्न आपके मन की परिधि का मोह छोड़ता नहीं था। अपनी वृत्तियों से दूसरों को कष्ट न हो, इतना ही नहीं किंतु अपने आप में भी इंद्रियां और मन अधिक समाधिवान रहें, इसी भावना से आपका चिंतन और उसके फलित प्रयोग चलते ही रहते थे। आपने समूचे गण को ही प्रयोग-केंद्र बना रखा था।'

–आचार्य महाप्रज्ञ

मानव मन के कुशल पारखी

साध्वी कार्तिकयशा

महान आश्चर्य!

एक नौ साल का छोटा-सा बालक अपनी मां से कहता है–'सागरजी भोला, अबकै परदेश मने भेजो

मांजी करस्यूं खूब कमाई.....।'
(तुलसी प्रबोध)

इतनी छोटी-सी उम्र में अपने ज्येष्ठ भ्राता की स्वाभाविक भद्रता का कुशलता से आकलन कर स्वयं कुछ करने खातिर साहसिक कदम उठाने की पुरजोर मांग ने उस नन्हे से तुलछूं को नैसर्गिक पारखी बना दिया।

दुधमुंहा बालक तुलसी सहसा किसी जन्मजात प्रेरणा से भावित होकर संन्यास के राजमार्ग पर प्रस्थित हो गया। वहां पर मुनि तुलसी के रूप में उनकी विलक्षण अस्फुटित प्रतिभा मात्र 16 वर्ष की आयु में प्राध्यापक की भूमिका पाकर प्रस्फुटित होने लगी।

विद्यार्थियों की लंबी शृंखला के बीच मुनि तुलसी की नजर टिकी एक भोले-भाले विद्यार्थी मुनि नत्थू पर। बहुधा प्रयत्न करने के बाद भी जब मुनि नत्थू की अध्ययन गति तीव्रता नहीं पकड़ पाई, तब भी मुनि तुलसी ने धैर्य नहीं छोड़ा। मुनि नथमल के मन की गहरी तड़प को परखा। उनके बेजोड़ समर्पण और आंतरिक क्षमताओं की थाह पाई और देखते ही देखते मुनि नथमल को आचार्य महाप्रज्ञ की यात्रा तक पहुंचाकर 'तुलसी पाठशाला' का अमर विद्यार्थी बना दिया।

मुनि तुलसी की अनुशासनप्रियता, नेतृत्व क्षमता, सही और गलत की परखशील दृष्टि और वैचारिक प्रौढ़ता आदि गुणवत्ताओं ने उन्हें अष्टमाचार्य कालूगणी का अत्यंत प्रियपात्र शिष्य बना दिया। गुरु के गहरे विश्वास से मात्र 22 वर्षीय मुनि तुलसी को आचार्यपद की अनवरत शृंखला से जोड़ दिया।

22 वर्षीय आचार्य के सामने था तेरापंथ धर्मसंघ का लगभग 472 वरिष्ठ, कनिष्ठ साधु-साध्वियों का इतना विशाल समुदाय। हर व्यक्ति के मन को जीतना कितना दुष्कर कार्य था। फिर भी पारखी व्यक्तित्व ने इसे सहज बना दिया। वे मानव-मन की हर जरूरत को समझते थे। एक नवदीक्षित साधु-साध्वी को कितना स्नेह देना चाहिए और एक प्रौढ़ साधु-साध्वी की सार-संभाल किस प्रकार की जानी चाहिए।

साधु-साध्वियों के जीवन में आने वाली हर परिस्थिति व मोड़ पर वे इस प्रकार उनका साथ निभाते, ऐसे सहलाते कि हर साधक अपने मन की पोथी खोलकर उनके सम्मुख हलका होने के लिए आतुर हो जाता।

लगभग 60 साल के उस ऐतिहासिक तुलसी युग में कितने-कितने साधु-साध्वियों के वे शब्द मेरे

श्रुतिपटल में गूंजते रहते हैं–'आचार्य तुलसी मेरे हैं, मुझ पर उनकी अनंत कृपा रही, मेरे कहने से पहले ही वे मेरे मन की बात जान लेते थे.....।'

सैकड़ों साधु-साध्वियों के मन के तारों को एक स्वर में बांधे रखना एक कुशल पारखी के लिए ही संभव था।

सफल कृतिकार की सफलतम कृति 'साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभाजी' का प्रारंभिक जीवन तो एक ऐसी दिलचस्प कहानी बन चुका है जो आचार्य तुलसी की परखशीलता को पराकाष्ठा के मुकाम तक पहुंचा देता है। किस प्रकार उन्होंने मुख-मुख पर अनेक नामों के काल्पनिक उद्घोषों के बाद भी अपनी पारखी नजरों से पिछली पंक्ति के कोने में बैठी एक सामान्य साध्वी को साध्वीप्रमुखा पद के लिए आगे लाकर उस वक्त को अप्रत्याशित घटनाक्रम बना दिया।

संघ के साथ-साथ श्रावक-समाज के विकास एवं धार्मिक क्षेत्र की व्यापकता के लिए भी उन्होंने खुली आंखों से सपने देखे और फिर उन सपनों में रंग भरने के लिए प्रभावी योजनाएं बनाईं। उसके लिए सशक्त कार्यकर्ताओं को तैयार किया।

किसी व्यक्ति पर टिकी हुई आचार्य तुलसी की पैनी नजर एक बार में ही तय कर देती थी कि इस व्यक्ति को कहां नियोजित करना है।

कितने-कितने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक-बंधु उनके उपपात में पहुंचते और उनकी विस्मयकारी छवि को निहारते-निहारते उन्हीं के होकर रह जाते। आचार्य तुलसी तत्काल उनके मन की भावना और योग्यता को गहराई से परख कर उन्हें किसी विशेष जिम्मेवारी से जोड़कर उनमें अपनत्व का एहसास जाग्रत कर देते। चाहे वह सीताशरण शर्मा को अणुव्रत समिति का अध्यक्ष बनाने का प्रसंग हो या महान साहित्यकार जैनेन्द्रजी को अथवा शिवराज पाटिल को। और कई बार तो आचार्य तुलसी की अंतःप्रज्ञा मानव-मन के अज्ञात रहस्यों को इस तरह उद्घाटित कर देती थी कि मानो जिज्ञासा लेकर आये हुए व्यक्ति को स्वयं में मेघकुमार और आचार्य तुलसी में भगवान महावीर का प्रतिबिंब परिलक्षित होने लगता।

श्रीमान् ओमप्रकाशजी जिन्दल व सावित्री जिन्दल की आंखें तब खुली की खुली रह गईं जब आचार्य तुलसी के सम्मुख अकथित उनका पारस्परिक विवाद बिना कुछ कहे या पूछे उससे पहले ही अनायास बातों ही बातों में सुलझ गया। आचार्य तुलसी के कुछ इस प्रकार के वे शब्द–राजनीतिक क्षेत्र में सक्रियता तो ठीक हैं किंतु परिवार का नेतृत्व, उसकी जिम्मेदारी व मूल घर की बागडोर तो ओमप्रकाश जिन्दल के हाथों में ही रहनी चाहिए।

ये शब्द केवल शब्द ही नहीं थे वरन् सावित्रीजी के लिए सहज समाधायक वाक्य बन गये। और आज भी सावित्रीजी कई बार इस बात का जिक्र करके अपने आराध्य आचार्य तुलसी को अंतर्यामी मानकर श्रद्धा से नतमस्तक हो जाती हैं।

केवल सावित्रीजी ही नहीं वरन् लाखों-लाखों लोगों के हृदय जो आचार्य तुलसी का नाम सुनते ही गद्गद हो जाते हैं, आचार्य तुलसी का नाम लेते ही उनके कर श्रद्धा से जुड़ जाते हैं। आचार्य तुलसी की बात आते ही उनके कान खड़े हो जाते हैं और अधर कुछ बोलने लग जाते हैं। आचार्य तुलसी की याद आते ही आंखें गीली हो जाती है।

आज आचार्य तुलसी का वह अलौकिक बिंब इस नई पीढ़ी के चक्षुयुगल का विषय तो नहीं बन सकता। किंतु शताब्दी-वर्ष में हो रही तुलसी जीवन और दर्शन की अनुगूंज, श्रद्धालुओं में लहराती घनीभूत आस्था देखकर उनके मस्तिष्कीय पटल पर आचार्य तुलसी का एक ऐसा रेखाचित्र उभर रहा है, जो उन्हें मानव मन के कुशल पारखी, कुशल चितेरे के रूप में पाकर आह्लाद की अनुभूति करवा रहा है। ❑

अणुव्रत : नैतिकता का ईश्वरीय संदेश

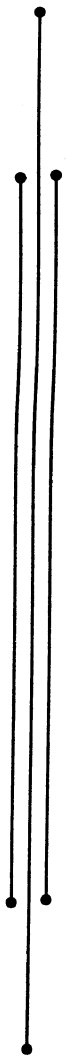

साध्वी स्वस्तिकप्रभा

सन् 1947.... खुला आसमां, धानी धरती, छलछलाती नदियां, गरजते सागर और शिखर छूती पर्वतमालाएं–ये सब आजाद हो चुके थे मगर भारतवासियों का राष्ट्रीय-चरित्र पराधीन था। बीते दौर के अभावों और संघर्षों ने देशवासियों के नैतिक वजूद को धराशायी बना दिया। उनकी संकीर्णता और स्वार्थपरस्ती ने लोकचेतना को हाशिये पर ले जाकर खड़ा कर दिया। राष्ट्र-भूमि के साथ-साथ वैश्विक-मानवता भी अणुबम की दहशत से कांप उठी। ऐसे संवेदनशील समय में संत तुलसी के संवेदनशील हृदय में एक नया संवेदन जगा, जिसका नामकरण हुआ–'अणुव्रत'।

अणुव्रत के उद्भव को एक राजस्थानी कवि की भाषा में यूं भी कहा जा सकता हैं–

- दुनिया में दो धारा देखी, पहली में अणुबम झांक रह्यो।
  दूजै में दुनिया रो पाणी, छाया अणुव्रत री आंक रह्यो।
- देखै में दुनिया रो पाणी, छाया अणुव्रत री आंक रह्यो।
  अणुव्रत री चर्चा चाल पड़ी, जल में थल में अंतस्तल में।
- वो सर्वनाश री ज्वाला है, औ विश्व-मैत्री रो विमल बीज।
  वो ग्रहण महामानवता रो, औ चांद दूज री नयी चीज।
- उतर्‌यो धरती पर धीरज स्यूं, अणुव्रत रो आंदोलन विशाल।
  सौ बरसां स्यूं पाछी आई, सन् उनपचास री नयी साल।

अणुव्रत कोई मजहब नहीं, कोई जंग नहीं, कोई जिहाद नहीं। यह अहिंसक चेतना की पुकार है। पारस्परिक सद्भावना की मधुर मनुहार है। जीवन-शुद्धि का सरल उपदेश है और नैतिकता का ईश्वरीय संदेश है।

आप कहेंगे ईश्वरीय संदेश कैसे?

- क्या किसी ईश्वर ने आचार्य तुलसी के पास आकर उनके कानों में अपना संदेश सुनाया?
- क्या आचार्य तुलसी की योजना ईश्वरीय फरमान का पर्याय बनती थी?
- क्या आचार्य तुलसी, ईसा, मुहम्मद आदि की तरह धरती पर ईश्वर का प्रतिरूप थे?

नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं था। गौरवर्ण, भव्य ललाट, तेजोमय नेत्र, मंझले कद और स्फूर्तिमान गति वाले आचार्य तुलसी एक मानव ही थे मगर उनका संदेश ईश्वरीय बन गया।

उनका मानना था कि हर आत्मा में ईश्वरीय गुणों का अंश अवश्य विद्यमान रहता है। इसलिए उन्होंने हर आत्मा को परमात्मा के समीप लाने वाला यह अणुव्रत जमीं, आसमां, सागर और हवाओं की खामोशियों में गुंजा दिया।

उन्हें विश्वास था कि भले ही इनसान कितना भी बुरा बन जाए मगर बहुत सारे कोणों से उसमें अच्छाई का अंश रहता ही है। जैसे एक व्यक्ति अत्यधिक असत्य संभाषण करता है लेकिन वह केवल असत्य बोलने का व्रत लेकर कभी नहीं जी सकता। यदि वह दिन में दस बार झूठ बोलता है तो नब्बे बार सच भी बोलता है। अब यदि उसको 'तुम यह सच बोलो, तुम यह सच बोलो.....' की असीम तालिका बनाकर दी जाए–इसके स्थान पर यदि दस प्रकार के असत्य बोलने से उसको रोक दिया जाए तो यह प्रशस्त मनोवैज्ञानिक उपाय होगा। अणुव्रत इसी लयात्मकता के आधार पर नैतिकता का ईश्वरीय संदेश बन गया।

अगला प्रश्न हो सकता है–नैतिकता के संदेश में व्रत को स्थान देना क्यों आवश्यक था? केवल हृदय-परिवर्तन या फिर किसी अन्य उपाय से यह आलोक फैलाया जा सकता था। मुझे लगता है, आलोक-संप्रसारण के लिए यह व्रतों की विधा सर्वोत्तम है। व्रत जीवन-शुद्धि के बीज हैं और जीवन रूपी नदी के किनारे हैं। यदि किनारे न हों तो नदी, नदी नहीं रह पाती। उसमें वेग नहीं बढ़ता और पानी छलक जाता है। वह केवल कीचड़ बनकर रह जाता है। किनारों की वजह से नदी समुद्र तक पहुंच सकती है। इसी प्रकार जीवन को ओजपूर्ण एवं व्यवस्थित बनाने के लिए व्रत रूपी किनारे आवश्यक हैं।

जीवन की नदी पर तटों का विस्तार करने के लिए आचार्य तुलसी ने रंगीले राजस्थान के क्षितिज से सफेद हंसों की टोलियों की तरह मुखवस्त्रिका बांधे, रजोहरण और भिक्षापात्र लिए, लगभग 600 साधु-साध्वियों को भारतीय मानचित्र पर भिक्षा मांगने भेजा। उन्हें धन, सम्मान, यश, जय-जयकार की चाह नहीं थी बल्कि वे परमात्म-वृत्ति की ओर ले जाने वाले इन व्रतों की याचना करते थे।

शाम के समय जैसे जंगल से चरकर आई हुई गाय की आंखें अपने बछड़े को पाकर चमकती हैं, वैसे ही इन याचकों की आंखें उनके सद्गुणों से अपनी झोली भरने पर अंतर्ज्योति से परिपूर्ण हो जाती थीं।

25 व्यक्तियों की मांग से प्रारंभ होने वाला तथा जन-जन के जीवन की मशाल बनने वाला यह अणुव्रत आज भी वक्त की रेत पर अमिट पदचिह्न बनाता हुआ गतिमान है। आशा है, नैतिकता का ईश्वरीय संदेश गंगा-यमुना-सरस्वती की इस पावन धरा पर सदा आत्मोदय की फसलें खिलाता रहेगा। ❑

संसद में संबोधन

साध्वी पुष्यप्रभा

आचार्य तुलसी प्रारंभ से ही नवीन क्रांति के सूत्रधार रहे हैं। उनके जीवन का हर क्षण अपने आप में एक नए इतिहास को समेटे हुए हैं। अध्यात्म-जगत के इस महासूर्य ने मानव मन के गलियारों में प्रसृत अनैतिकता के तमस को दूर करने के लिए अनगिनत नैतिक दीप जलाए। बंजर धरती पर उजालों की लहलहाती फसलें उगाईं। धर्मक्रांति के पुरोधा बनकर वे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और समग्र मानव जाति के उन्नयन हेतु संकल्पित हुए।

'चरैवेति' सूत्र की अग्रगामिता में वे अणुव्रत की मशाल हाथ में थामे राष्ट्रपति भवन तक गए। राष्ट्र के चरित्र-बल के उन्नयन हेतु आचार्य तुलसी ने विधानसभा, राज्यसभा, लोकसभा, साहित्यकारों, पत्रकारों तथा संसद आदि को भी समय-समय पर संबोधित किया। नैतिक-मूल्यों के जागरण हेतु संसद में गोष्ठियां आयोजित कीं।

4 अप्रैल, 1979 को पार्लियामेंट में एक गोष्ठी का समायोजन किया गया, जिसका विषय था–'राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में सांसदों की भूमिका।' विदेशमंत्री श्री वाजपेयी, स्वास्थ्यमंत्री श्री रविराय, वरिष्ठ सांसद डॉ. कर्णसिंह आदि देश की महान हस्तियों ने प्रस्तुत संदर्भ में अपने विचार व्यक्त किए। आचार्य तुलसी ने अपना वक्तव्य उपनिषद की कथा से प्रारंभ करते हुए कहा–एक बार विद्या ने ब्राह्मण के समक्ष अपने आंतरिक दु:ख को प्रकट करते हुए कहा कि तुम हर किसी व्यक्ति के हाथ में मुझे सौंप देते हो यह मुझे अच्छा नहीं लगता। मेरा आपसे निवेदन है कि कृपया आप मुझे सिर्फ तीन लोगों से बचायें–जो लोग अपारदर्शी हैं, कुटिल हैं और प्रमादी हैं। आचार्य तुलसी ने विद्या के स्थान पर संसद को संबोधित करते हुए कहा–संसद भी तीन लोगों से दु:खी हैं।

1. जो केवल विरोध के लिए विरोध करते हैं।
2. जो किसी भी तरह से वोट पाने का प्रयत्न करते हैं।
3. जो संयम की साधना करनें में अक्षम हैं।

इस प्रकार आचार्य तुलसी ने देश की अनेक ज्वलंत समस्याओं को उजागर कर संपूर्ण परिषद को जागृति का नया संदेश दिया। उनका स्वयं का जीवन प्रयोग व प्रशिक्षण पर आधारित था। अत: संसद में वर्तमान परिस्थितियों का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा–'आज भारत राजनैतिक दासतां से मुक्त है किंतु किसी देश के निर्माण की वास्तविक बुनियाद है–राष्ट्रीय चरित्र। संसद का सदस्य बनने के लिए भी प्रशिक्षण व्यवस्था होनी चाहिए ताकि देश के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण हो सके।' आचार्य तुलसी के चारित्रिक उत्थान के सुदृढ़ विचारों ने समस्त जनमेदिनी के मानस पटल पर सकारात्मक बिंब अंकित किए।

देश में संयम की नई चेतना के सूत्रपात हेतु 16 सितंबर 1983 को अणुव्रत संसदीय मंच के द्वारा आचार्य तुलसी की सन्निधि में एक गोष्ठी पुन: आयोजित की गई। जिसमें लगभग 50 सांसद उपस्थित थे। इस संगोष्ठी में आचार्य तुलसी ने स्वयं को जैनाचार्य की अपेक्षा जन आचार्य के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा–मेरे जीवन का एक ही लक्ष्य है मानव सही अर्थ में मानव बने। उसके भीतर मानवता विकसित हो। व्यक्ति सुधार से ही समाज सुधार होगा और समाज सुधार से ही राष्ट्र सुधार की स्थिति निर्मित होगी। आज देश की सबसे बड़ी महामारी है–अनैतिकता। इस महामारी को दूर करने के लिए व जन समुदाय के भीतर संयम की चेतना को जागृत करने के लिए हमने अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात किया। यदि संसद भी इस विषय पर कार्य करना प्रारंभ कर दे तो एक आदर्श राष्ट्र का सपना साकार हो सकता है।

संसद में दो बार अपने तेजस्वी विचारों की अभिव्यक्ति के साथ आचार्य तुलसी ने सभी सांसदों के मस्तिष्क पर अविस्मरणीय छाप छोड़ी। उन्हें राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीय चरित्र निर्माण की दिशा में सोचने के लिए विवश कर दिया। 14 दिसंबर; 1994 को साहित्य भेंट कार्यक्रम के उपलक्ष्य में आचार्य तुलसी को तीसरी बार संसद में आमंत्रित किया गया। लोकसभा के अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल ने मुख्य गेट पर आचार्यश्री का स्वागत किया।

इस बार का कार्यक्रम अपने आप में कई नवीन विशेषताओं को समेटे हुए था। यह एक ऐसा कार्यक्रम था जिसका कोई संयोजक नहीं था, जो स्वत: संचालित था। एक ऐसा कार्यक्रम था जिसके कार्ड विदेश तक भी गए थे। 'राष्ट्रीय चरित्र के पतन का जिम्मेदार कौन? विषय पर क्रांतिकारी विचारों के साथ आचार्य तुलसी ने अनेक प्रश्न उपस्थित किए। भारत में चरित्र का ह्रास क्यों? राष्ट्रीय चरित्र की समस्या के समाधान में सांसदों का कर्तव्य क्या है? आदि प्रश्न कर वहां उपस्थित लोगों के हृदय पर एक नूतन प्रतिमा अंकित करते हुए परिवर्तन की एक नई दिशा दिखाई। राजनेता और अर्धनेता के विचारों और आचरणों को मोड़ देने की क्षमता एक मात्र धर्मनेता में होती है। बीसवीं सदी के महासूर्य ने धर्मनेता के रूप में अनेक बार संसद को संबोधित किया ताकि देश चारित्रिक उत्थान की दिशा में अग्रसर हो सके।

इस प्रकार आचार्य तुलसी ने नैतिक मूल्यों के संरक्षण-संवर्धन के लिए नए-नए मार्ग उद्घाटित किए। जीवनभर अध्यात्म के साथ नैतिक व चारित्रिक मूल्यों की वेदी पर मानव को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया तथा एक नई जीवन शैली प्रस्थापित कर महानता का दिग्दर्शन मानव मात्र को करवा दिया। ❑

परमयोगी आचार्यश्री तुलसी

मुनि किशनलाल

योग का तात्पर्य आज केवल आसन-प्राणायाम से रह गया है। युवापीढ़ी के लोग पश्चिम से शिक्षा ग्रहण कर लौटते हैं, बड़े गर्व से कहते हैं कि आजकल मैं 'योगा' कर रहा हूं। भारतीय योगियों द्वारा पश्चिम में गया योग भारत में 'योगा' बन कर लौटा है। पश्चिम के लोग योग करते हैं। वे पूरी तन्मयता से, पूरे मनोयोग से करते हैं। उसकी बारीकियों को समझने की कोशिश करते हैं। पश्चिम की योग की बयार का प्रभाव भारत पर भी हुआ है। भारतीय युवा स्वास्थ्य के प्रति जागरूक बनकर प्रातःकालीन भ्रमण और आसन-प्राणायाम करने लगे हैं।

परमयोगी गुरुदेव

आचार्यश्री तुलसी परमयोगी थे। उन्होंने केवल आसन-प्राणायाम की ही साधना नहीं की अपितु संपूर्ण अष्टांग योग की उनकी सहज साधना थी। वे सहजसिद्ध योगी थे। योग में केवल आसन-प्राणायाम की साधना ही नहीं करते थे। उन्होंने योग के एक-एक सूत्र को आत्मसात किया था। योग का पहला सूत्र है–'अथ योगानुशासनम'-योग का प्रारंभ अनुशासन से होता है। जो अनुशासनपूर्वक नहीं जीता है वह योग की पूर्णता तक नहीं पहुंच सकता। आचार्यश्री ने अनुशासन को पूर्ण रूप से जीया ही नहीं, अपितु हजारों-हजारों लोगों को अनुशासन का प्रशिक्षण दिया। उनका दिया हुआ एक स्लोगन राष्ट्रीय स्तर तक प्रचलित हुआ, वह है–'निज पर शासन फिर अनुशासन'। वे अनुशास्ता थे। उन्होंने अपने शरीर, मन और भावना को अनुशासित कर एक आदर्श प्रस्तुत किया। उनके द्वारा रचित 'मनोनुशासन' योग का विलक्षण ग्रंथ बन गया। उसकी भूरि-भूरि अनुशंसा योगियों और विद्वानों ने की है।

प्रयोगधर्मा आचार्य

आचार्यप्रवर प्रयोगधर्मा थे। तेरापंथ परंपरा में आसन-प्राणायाम का विधिवत न प्रशिक्षण था और न ही अभ्यास। आचार्यश्री तुलसी ने स्वयं आसन-प्राणायाम का अभ्यास प्रारंभ किया। पूरे धर्मसंघ में ध्रुवयोग योगासन के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। आज भी आचार्यश्री महाश्रमणजी एवं अनेक साधु-साध्वियां आसन-प्राणायाम के प्रयोग करते हैं। समण-समणियां, उपासक-उपासिकाएं, श्रावक-श्राविकाओं में आसन-प्राणायाम के यत्किंचित प्रयोग चलते हैं। प्रेक्षाध्यान का आविष्कार आचार्यश्री की सन्निधि में हुआ। आसन-प्राणायाम मुद्रा, यौगिक क्रियाओं को प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। ऐसे ही जीवन-विज्ञान की बारह इकाइयों में आसन-प्राणायाम तीसरी-चौथी इकाई है जिससे छात्र-छात्राओं, शिक्षकों में भी आसन-प्राणायाम का अभ्यास करवाया जाता है।

आचार्यश्री के सान्निध्य में लगने वाले शिविरों में, फिर वे चाहे प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, उपासक अथवा संस्कार निर्माण शिविरों का समायोजन हो, सभी में आसन-प्राणायाम का अभ्यास करवाया जाता है। यह आचार्यश्री की दूरदृष्टि का परिणाम है।

परमयोगी, सिद्धयोगी

परमयोगी अथवा सहज सिद्धयोगी कहने का मेरा तात्पर्य है उन्होंने किसी परंपरा से योग नहीं सीखा। प्रवचन तथा विशिष्ट कार्यक्रमों में तीन-तीन घंटे तक स्थिर बैठना आसन-सिद्धि का परिणाम था। पद्मासन में काफी समय तक ध्यान में स्थिर रहना उनके लिए सहज था। इसलिए वे सहज परमयोगी कहलाये।

यम-नियम उनके जीवन में दीक्षा ग्रहण करते ही आ गये थे। यमों की साधना-आराधना मनसा, वाचा व कर्मणा से करते थे।

स्वास्थ्य के लिए योग

आसन-प्राणायाम, योग अभ्यास प्रातः देह निवृत्ति के पश्चात किया करते थे। संत आसन बिछा देते, गुरुदेव चोलपट्ट को उलटकर व्यवस्थित कर लेते थे। कंधे पर छोटा कपड़ा रहता था। छोटे संत एवं अन्य रुचिशील संत गुरुदेव के साथ आसन-प्राणायाम किया करते थे। उनके चित्र विरासत (प्रथम भाग) पुस्तक में आज भी सुरक्षित हैं। जो उस समय की साक्षी दे रहे हैं।

आसन से पूर्व मस्तक, आंख, कान, मुख, गला, गरदन, कंधे, सीना, हाथ, कटि भाग, घुटने, पैर आदि की यौगिक क्रियाएं कराते। इन क्रियाओं के पश्चात शयनासन में पीठ के बल उत्तान-पादासन का प्रयोग तीन बार कराते थे। अर्ध उत्तान पादासन में सर्वप्रथम बाएं पांव को 30° उठाते, फिर 60° धीरे-धीरे पैर भूमि पर लाते थे। इसी तरह दूसरे पांव से भी करवाते थे। फिर दोनों पैरों को एक साथ 30° और 60° उठाकर उत्तान पादासन का अभ्यास कराते थे। इससे पेट की क्रियाएं व्यवस्थित होती थी। पैरों के दर्द में भी लाभ होता था।

पवन मुक्तासन में पीठ के बल लेट कर दोनों घुटनों को मोड़कर दोनों हाथों से घुटनों को बांधकर घुटनों पर नाक लगाने का प्रयास किया जाता है। इस आसन की तीन आवृत्ति कराते थे। चौथी आवृत्ति में शरीर दाएं-बाएं किया जाता, उससे उदर में ठहरी वायु बाहर निकल जाती जिससे पेट में हलकापन, वायु विकृति का निसरण हो जाता था।

भुजंगासन भी तीन बार करते थे। इससे सीने की मजबूती, कमर और गरदन के दर्द में आराम मिलता था।

वे शशांकासन का अभ्यास करते। इसमें वंदनासन में दोनों हाथों को आगे फैलाकर मस्तक को भूमि पर लगाया जाता है। इससे आवेग संतुलित होता है। उसके पश्चात् सर्वांगासन कराते थे। इसमें पूरा शरीर विपरीत मुद्रा में आ जाता है। हृदय को विश्राम मिलता है, मस्तक को रक्त की मात्रा अधिक मिलती है। उससे मस्तिष्क क्षमता बढ़ जाती है। उसके पश्चात् मत्स्य आसन, जिसमें पद्मासन में सिर को उलट कर भूमि पर स्थापित किया जाता है। इससे सर्वाइकल का दर्द तो जाता ही है साथ ही शरीर, सीने का संतुलन भी बढ़ जाता है। उसके पश्चात् शयन आसन कायोत्सर्ग करते थे। कायोत्सर्ग से पूरा शरीर स्वस्थ और प्राण ऊर्जा का अनुभव करने लग जाता है। इस तरह आसन का अभ्यास करने के पश्चात वे विराज जाते थे।

योगासन से तारुण्य

गुरुदेव के प्रिय आसन थे–सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन, उत्तानपादासन, पवन मुक्तासन, पश्चिमोत्तासन, उत्कटुकासन, नाभिदर्शन, गोदोहिकासन आदि। पूज्यश्री आसन प्रायः करते थे। आचार्यश्री ने अपनी डायरी में लिखा–मैं जिस दिन आसन-प्राणायाम नहीं करता हूं, लगता है उपवास हो गया। मैं आसन आज भी बच्चे की भांति करता हूं। मेरा शरीर उतना ही लचीला है, स्फूर्ति से भरा है जितना एक बच्चे का होता है। योगासन के अभ्यास से तारुण्य का अनुभव होता है। कभी-कभी योगासन में सातत्य नहीं रहता, वे दिन इतने फलदायी नहीं रहते। शारीरिक, मानसिक, भावात्मक स्वास्थ्य के लिए प्रतिदिन योगासन करना जरूरी है।

गुरुदेव व्यस्त कार्यक्रम में योगासन का समय निकाल ही लेते थे। कारणवश कभी नहीं होता तो रिक्तता-सी महसूस होती थी। योगासन के संदर्भ में उनका कथन था–'शरीर में हलकापन, मानसिक प्रसन्नता-स्फूर्ति रहती है, अतिरिक्त चर्बी समाप्त हो जाती है। स्नायविक दृढ़ता बढ़ती है।

पद्मासन व अर्ध-पद्मासन

जैन तीर्थंकरों की अधिकतम प्रतिमाएं पद्मासन में स्थित हैं। पद्मासन ऐसा आसन है जिस आसन में मेरुदंड सीधा रहता है तथा जिससे गुरुत्वाकर्षण बल न्यून हो जाता है। ऐसी स्थिति में ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है। इसलिए इस आसन को ध्यानासन कहा जाता है पद्मासन से थोड़ा कठिन बद्ध पद्मासन शरीर को व्यवस्थित करने वाला और एकाग्रता को बढ़ाने वाला है। आचार्यप्रवर इस आसन से अपने शरीर के वजन का अंदाज लगा लेते थे। बद्ध पद्मासन सरलता से हो तब वजन सही है। कठिनता से होने पर तत्काल अपनी खुराक पर ध्यान देकर ऊनोदरी कर शरीर के वजन को कम कर लेते थे। गुरुदेव का खाद्य-संयम अनुत्तर था। तेरापंथ के आचार्य के सम्मुख भोजन के अनेक पदार्थ होते हैं। उनका संयम विलक्षण था। हाथ धोने के बाद कैसा भी पदार्थ आ जाए, छूते तक नहीं थे। द्रव्य भी सीमित होते थे।

जोधपुर प्रवास में गुरुदेव एवं मुनिश्री नथमलजी (आचार्यश्री महाप्रज्ञ) थंडिल भूमि के लिए दूर पहाड़ियों की ओर जाते थे। यह स्थान मोतीचौक स्थित केवलराजजी सिंघी की हवेली से लगभग 2-3 किलोमीटर दूर होता। गुरुदेव ने मुनिश्री का हाथ थामते हुए कहा–खाद्य-संयम की दृष्टि पहले जाग्रत हो जाती तो शतायु होते। खैर 'जब जागे तब ही सवेरा।' खाद्य-संयम ऊनोदरी तप तो है ही, साथ ही शरीर को संतुलित रखने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

आसन से समाधि तक

यम, नियम, आसन, प्राणायाम-प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि–योग के ये आठ अंग हैं। आसन, प्राणायाम साधना के स्थूल अंग हैं। प्राणायाम से प्राण वश में कर ही प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि की यात्रा की जा सकती है। गुरुदेव का प्राण सहज संयत था।

प्रत्याहार से इंद्रियों को अपने-अपने गोलकों में स्थिर रख ध्यान की स्थिति को प्राप्त किया जाता है। यम-नियम आदि एक शृंखला में आबद्ध हैं। सहज समाधि की यात्रा इनके विकासक्रम में निश्चित थी।

प्रत्याहार गुरुदेव का अनुपम था। कोई भी इंद्रिय उनके निर्देश के बिना इधर-उधर नहीं जा सकती थी, उनका आत्म संयम इतना उत्कृष्ट था। वंदन करने वाले सैकड़ों लोगों की भीड़ में सृजन और स्वाध्याय के उपक्रम अबाध गति से चलते रहते। इतनी व्यस्तताओं के बावजूद एकाग्रता से उनका कार्य सुचारु रूप से चलता रहता था। इतना श्रेष्ठ संयम विरल व्यक्तियों में ही होता है।

धारणा ध्यान की पूर्व-भूमिका है। वे प्रत्येक कार्य को पूरी एकाग्रता से करते थे। वीतराग अर्हत उनकी धारणा का आधार था। 'गुरुदेव शरणम्' मानस मंत्र था। वीतरागता की भावना, गुरुदेवश्री कालूगणी के प्रति अनन्य श्रद्धा व समर्पण भाव ध्यान में उतार देता था। गुरुदेव फरमाते–'ध्यान किया नहीं जाता, घटित होता है।'

एक बार रात्रि के समय विश्राम मुद्रा में लेटे हुए थे। नींद आ नहीं रही थी, गुरुदेव विराज गये। आस-पास संत निद्रालीन थे। गुरुदेव धीरे से पद्मासन में विराज गये। कोई धारणा की भावना नहीं थी फिर भी वे ध्यान में उतर गये। गुरुदेव का यह ध्यान गहराता गया। वे ध्यान में लीन थे। कब एक घंटा बीत गया, पता ही नहीं चला। ध्यान से मन दूर नहीं हो रहा था। ऐसा सुखद ध्यान पहली बार लगा। पार्श्व में सोए संत भी जाग गये। सुख व्यक्ति अकेला भोगता है। आनंद की प्रवृत्ति दूसरों को बांटने में अधिक आनंद की अनुभूति कराती है। आचार्यश्री ने मुनि मधुकरजी से कहा–मुनि नथमलजी को बुला लाओ। वे गये, उनको जगाया। वे तत्काल ही गुरुदेव की उपासना में पहुंच गये। ध्यान की अनुभूति को बांटते हुए गुरुदेव ने कहा–आओ! आज सब एक साथ ध्यान करें। सुखद ध्यान की अनुभूति-स्मृति मात्र से मैं भावविभोर हो जाता हूं। ऐसी समाधि के क्षण की अनुभूति सदैव स्मृतिपटल पर अंकित हो गई।

आचार्यश्री की योग साधना को केवल आसन-प्राणायाम से अंकित न कर समग्रता की दृष्टि से देखते हैं तो लगता है कि आचार्य तुलसी सहज योगी, परम-उपयोगी सिद्धपुरुष थे। साधना उनके रोम-रोम से प्रस्फुटित होती थी। अध्यात्म के प्रति समर्पित उस चेतना को शत-शत प्रणाम। ❑

अप्रतिम व्यक्तित्व को प्रणाम

साध्वी प्रबुद्धयशा

एक शिशु, जो अपने शैशव में नहीं जानता था कि दूध भी रोज पीने का पेय पदार्थ है, जिसे अपनी तुतलाती बोली में ही पिता का अवसान सहना पड़ा, जिसे बचपन में ही अपनी सहोदरी पर आए महान वज्राघात को देखना पड़ा, जो भाई के अनुशासन में रहा, मां के साये में पला और मात्र ग्यारह वर्ष की बाल वय में संयम के महापथ का पथिक बन गया।

संयम पथ पर उस शिशु का चरणन्यास एक धार्मिक संगठन में विलक्षण व्यक्तित्व, विलक्षण नेतृत्व और विलक्षण कर्तृत्व का चरणन्यास था। उस बाल मुनि ने एक महान गुरु का विश्वास पाया और उस विश्वास के फलस्वरूप बीसवीं सदी की एक विलक्षण घटना घटी। जैन शासन की एकता के प्रतीक नमस्कार महामंत्र के तीसरे पद **णमो आयरियाणं** में मात्र 22 वर्ष का वह साधु प्रतिष्ठित हो गया। वह केवल मात्र प्रतिष्ठा ही नहीं वास्तविकता थी जो वैभवपूर्ण-विस्मयकारी और विश्वसनीय थी।

युग को एक ऐसे धर्मधुरंधर नायक की उपलब्धि हुई, जिन्होंने रक्षिता बनकर केवल धार्मिक जगत का संरक्षण ही नहीं किया, बल्कि रोहिणी बनकर उसका अकल्पित रूप में संवर्धन भी किया। उस धर्मसारथि ने युगीन धर्मक्रांति की। धर्म को नया स्वरूप प्रदान किया, ताकि निष्प्राण होती हुई मानवता प्राणवान बन सके। रूढ़ता और मूढता की बेड़ियों में जकड़ी हुई आध्यात्मिकता उत्थान की सीढ़ी बन सके।

उनकी इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति और कर्मजा शक्ति अप्रतिम थी। उन्होंने जो संकल्प किया, उसकी निष्पत्ति को अपने कानों से सुना, अपनी आंखों से देखा, अपने हाथों से संवारा, अपनी लेखनी से लिखा और अपने अनुभवों से अनुभावित किया। उनकी आत्म-कथा की संपादिका साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी लिखती हैं–**देख्या जो सपना, सै होग्या साकार हो**। वस्तुतः वे ही सपने साकार होते हैं, जो दृढ़ संकल्प शक्ति से प्रस्फुटित होते हैं।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना आकर्षक था, आंतरिक व्यक्तित्व उतना ही प्रभावक था। जब वे तेरापंथ संघ के प्रशास्ता बने तब विकास की वर्णमाला उनके भीतर अंतर्निहित थी। उन्होंने उसे अभिव्यक्ति दी। तत्पश्चात् अपने संगठन के सदस्यों को पढ़ाना शुरू किया। उनके अप्रतिम निर्माण कौशल का ही सुपरिणाम है कि उनका हर अनुयायी उस वर्णमाला को गुनगुनाने लगा। और देखते ही देखते तेरापंथ विकास का परिचय-पत्र ही नहीं बल्कि अन्य संगठनों के लिए विकास का पथदर्शक बन गया।

वे साहित्यकार थे। उन्होंने केवल साहित्य ही नहीं लिखा, साहित्यकारों की लंबी कतार खड़ी कर दी। वे वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण पढ़ा और पढ़ाया ही नहीं, वैयाकरणों का निर्माण किया। उन्होंने दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन ही नहीं किया, दार्शनिकों का निर्माण किया। उन्होंने आगम ग्रंथों का संपादन ही नहीं किया, संपादक-संपादिकाओं की लंबी पंक्ति तैयार कर दी। उन्होंने अपने अप्रतिम कर्तृत्व से सैकड़ों-हजारों गायकों, वक्ताओं, प्रवचनकारों, कवियों, संचालकों, कार्यकर्ताओं, साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं का निर्माण कर संघ की अद्भुत सेवा की। उस विराट व्यक्तित्व को शत-शत प्रणाम।

नारी दुर्गा स्वरूपा बने, पर क्यों?

पद्मचन्द पटावरी

'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवता' जैसे मातृ-शक्ति को सुकून देने वाले उद्घोष के सर्वथा विपरीत हमारे देश में हजारों वर्षों से अधिकांशतः नारी जाति को दोयम दर्जे का सम्मान और अधिकार प्राप्त करते देखा गया है। बात तब से शुरू करते हैं जब आज से लगभग 78 वर्ष पूर्व तेरापंथ धर्मसंघ के नवमाधिशास्ता, युवाहृदय आचार्यश्री तुलसी बतौर आचार्य पट्टासीन हुए थे। समकालीन समाज में नारी जाति के प्रति चल रहे विविधमुखी अव्यवहार को देखकर आपका संत-हृदय उद्वेलित हो उठा। यद्यपि वे धर्म क्षेत्र के एक छोटे से संप्रदाय के आचार्य थे, आपकी उम्र भी मात्र बाईस वर्ष की थी, पर आपकी क्रांतिकारी सोच से उद्भूत अभिमत था कि जो धर्म-संप्रदाय समाज की धड़कन को सुनने से बेखबर होता है उसे धर्म क्षेत्र की अगुआई करने का नैतिक अधिकार नहीं रह जाता।

उस वक्त एक ओर नारी घूंघट में सिमटी, गहने-आभूषणों से लदी-फदी तकरीबन शो पीस जैसी बनी हुई थी तो दूसरी ओर उसके पास स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकार नहीं के बराबर थे। पति वियोग के पश्चात् उसके साथ किया जाने वाला अछूत जैसा व्यवहार ढेरों प्रश्न खड़े कर रहा था। आश्चर्य की बात तो तब होती कि हर समाज-तबके के लोगों के मुंह पर जैसे ताला लग गया था, इस अमानवीय कुकृत्य के प्रति जाने अनजाने हर व्यक्ति की सहमति हैरान करने वाली थी।

नारी शिक्षा की बात को तो आकाश कुसुमवत माना जाता था। बेटी को आखिर ससुराल जाकर चूल्हा चौका ही तो फूंकना है फिर उसके लिए शिक्षा का क्या अर्थ होगा! ऐसे बेतुके पैमाने और फरमान नारी शिक्षा के लिए बैरीयर बना रहे थे। बड़े-बुड्ढ़े, विधुरों के पीछे छोटी बालिकाओं को बेधड़क विवाह-बंधन से बांध देना मानो समाज की मान्य परंपरा बन गई थी। कहा जा सकता है कि हर क्षेत्र में मातृ-शक्ति अबोल, बेबस और विवश दिखाई देती थी।

इन परिस्थितियों में आचार्यश्री तुलसी ने क्रांतिकारी आह्वान के साथ नारी जाति के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहार की दुःखती रगों पर हाथ रखा। आपने समाज के साथ-साथ नारी जाति का आह्वान किया कि वह इन परिस्थितियों की जंजीरों को तोड़ कर आत्म-विश्वास के साथ बाहर निकले। धीरे-धीरे नारी जागरण का सिलसिला शुरू हुआ।

नारी जाग्रति के मसीहा आचार्यश्री तुलसी ने प्रतिबोध की भाषा में फरमाया–बहिनो! आप अबला नहीं, सबला हो। आप लक्ष्मी और सरस्वती के साथ-साथ शक्ति की श्रीदेवी हो। पता नहीं आपको समाज एवं घर-परिवार में बोझ क्यों माना जाता है। आप तो कभी बोझ थी ही नहीं वरन परिवार की हर जिम्मेदारी के निर्वहन में सदैव आगे रही हो। नारी की अहमियत परिवार में कितनी थी, उसका नजारा देखना हो तो उन परिवारों को देखा जाये जहां असमय में पत्नी वियोग के बाद परिवार की समग्र व्यवस्था चरमरा जाती है।

गुरुदेवश्री ने नारी जाग्रति के लिए अनेक प्रकार के प्रेरक दिशा-निर्देश समय-समय पर नारी जाति को प्रदान करने की कृपा की। आपश्री के सदुपदेशों की रोशनी में नारी समाज को कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं–

मातृ शक्ति! आपका बाह्य सौंदर्य एक दृष्टि से आपका भूषण हो सकता है, पर आंतरिक सौंदर्य तो चारित्रिक विकास से ही निखर सकता है। शील और संतोष उसके माध्यम बन सकते हैं।

शर्म करना, शर्म रखना आपका नार्युचित गुण है, पर याद रहे कि आंखों की शर्म आपके मुख मंडल पर देखी जानी चाहिए। बदलते परिवेश में आपका अति आधुनिकीकरण, आपका व्यवहार, आपकी वेशभूषा सवालिया निशान खड़े करे, उससे पूर्व आपको सचेष्ट हो जाना होगा।

आपके स्वभाव में ईर्ष्या के भाव जरूर आपकी प्रगति में रोड़े अटका सकते हैं। इससे पारस्परिक स्नेह और विश्वास के आदान-प्रदान में बाधा आ सकती है। अनेक क्षेत्रों में कलह कदाग्रह के बीच कई बार आपकी पीढ़ी खड़ी भी दिखाई देती है। अपेक्षा है चिंतन के साथ आप यहां भी अपने कल्याणी स्वरूप को प्रस्तुत करें।

आपको सदियों से सताया गया है, जिससे आपके आत्मविश्वास में कमी का आना स्वाभाविक है। आपके भरोसे को भी अनेक बार तोड़ा-मरोड़ा गया है, पर अब युग ने करवट बदली है, आप विवेकपूर्वक अपने आत्मविश्वास को वर्धमान करती हुई कार्य क्षेत्र में अपनी गुणवत्ता और उपयोगिता को स्थापित करती जायें।

आत्मनिर्भर होना आज के युग की आवश्यकता है और चुनौती भी है। इसके उपाय ढूंढ़े जाने चाहिए। पति और पत्नी दोनों का नौकरी के नाम पर बाहर रहना, घर, परिवार और बच्चों से कटकर बेखबर होना, मेरी दृष्टि में सही समाधान नहीं है। आज अनेक प्रकार के स्वतंत्र व्यवसायों के अवसर भी प्राप्त हो रहे हैं। लघु उद्योगों के माध्यम से भी आप अपनी कला, क्षमता और हुनर के सहारे अर्थार्जन के नये और प्रभावी स्रोत ढूंढ़ सकती हैं–जो भी हो पारिवारिक व्यवस्था, संस्कार और संस्कृति के साथ संतुलन बिठा कर आप आत्मनिर्भरता के क्षेत्र में नई कामयाबियां हासिल करें, यह आपका संकल्प हो।

याद रहे आपकी दकियानूसी सोच कहीं आपको मुसीबत में न डाल दे, इसके लिए आपको अपनी सोच के फाटकों को दुरुस्त रखना होगा। इस दौड़ में आप कहीं अत्याधुनिक सोच की शिकार न हो जायें। इस खतरे से बचें। याद रहे, आप नारी के साथ-साथ पत्नी हैं, मां हैं, आप परिवार की धुरी भी हैं। आपकी सोच की छोटी-सी भूल भटकाव पैदा कर सकती है।

आपके सामने सबसे बड़ी चुनौती है आपके स्वाभिमान की रक्षा करना। निश्चित रूप से इसके लिए

आप खम ठोक लें, पर यह भी याद रखते हुए कि आप स्वयं अहं की शिकार न हो जायें। अहं का परित्याग करके आपको इस चुनौती से मुकाबला करना होगा।

क्षमा करें, संग्रह वृत्ति आपकी पीढ़ी के संस्कारों में अमूमन देखी जाती है। उस पर क्रमशः रोक लगाने के प्रयास करने पड़ेंगे। अपनी जरूरतों को अनासक्त भावना के सांचे में ढाल कर फिर बेरोकटोक आगे बढ़ें। इससे पारिवारिक संतुलन सदैव बना रहेगा। भूलें नहीं, आप परिवार व्यवस्था की मास्टर चाबी हैं।

आपकी पीढ़ी प्रदर्शन और दिखावे की अनेक बार शिकार होती देखी गई है। इस समस्या से आपको बाहर आना होगा। इसके समाधान के लिए आपको आत्माभिमुख बनने की साधना भी करनी पड़ेगी। इससे ही आप इस बीमारी से मुक्त हो पायेंगी।

अनेक प्रकार की समस्याओं की जड़ होती है व्यक्ति की आग्रह की प्रवृत्ति। यह व्यक्ति के स्वभाव में अनायास जगह बना लेती है। आप फिर इससे अछूती कैसे रह पायेंगी। पर यदि प्रयत्न करके आप इस प्रवृत्ति को कम कर सकी या मुक्त हो सकी तो आपके व्यक्तित्व को नया अंदाज प्राप्त हो जायेगा। आप और अधिक पूजनीय बन जायेगी। अनेक बार वैयक्तिक सोच समूहगत जीवन में बाधक बन जाता है। चूंकि आप परिवार का विशिष्ट अंग हैं, अतः अपनी निर्भीक वैयक्तिक सोच के साथ समूह में संतुलन बिठाना भी जरूरी है। अब तो आप शिक्षा के क्षेत्र में भी अव्वल बन रही हो। आपका व्यक्तित्व निखार पर है। आपको कुछ ऐसे नुसखे ढूंढ़ने ही होंगे और सोच के समन्वय के साथ सब कुछ ठीक ठाक करके ही चैन से बैठना होगा।

कुछ विशेषताएं तो आप में जीवनगत हैं यथा– सरलता, सहजता, विनम्रता, मृदुता, सहिष्णुता आदि। ये विशेषताएं आपके लिए संजीवनी बूटी से कम नहीं हैं। इनके भरोसे तो आप वह सब कुछ कर सकती हैं जिसकी कल्पना आपको स्वयं भी नहीं हो सकती है। बस, इन विशेषताओं को आगे बढ़ाती जायें और इन्हें जीवन के हर क्षेत्र में रूपांतरित और घटित करती जायें। यही विकास का पथ है।

बदलते सामाजिक ताने-बाने में आपकी पीढ़ी पर चौतरफा संकट के बादल मंडरा रहे हैं। कभी आप भ्रूण हत्या की शिकार हो रही हैं, कभी आप दहेज हत्या, व उत्पीड़न की बलि चढ़ रही हैं, कभी आपका जबरन रेप कर आपको जिंदा जला दिया जा रहा है और कभी अन्य घिनौने कृत्यों से आपको क्षत विक्षत किया जा रहा है। निस्संदेह ये सभी कृत्य हमारे देश की समाज व्यवस्था को कलंकित कर रहे हैं।

केंद्र व राज्य सरकारों के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं का भी दायित्व है कि वे इन पर त्वरित लगाम लगाने की दिशा में कदम उठायें। समाज का हर वर्ग भी जाग्रत बने, पर इस विकट घड़ी में आप स्वयं इतनी मुखर क्यों नहीं हो रही हो। ऐसे कुकृत्यों के विरोध में आपकी आवाज में अपेक्षाकृत कमजोरी चिंता का विषय है।

कई बार कहा जा रहा है कि आप स्वयं अपनी पीढ़ी की दुश्मन बनकर मौन रह जाती हो। पर क्यों? आप में छुपा दुर्गा का स्वरूप जाग जाना चाहिए। आप शक्ति की मिसाल ही नहीं, शक्ति का भंडार हो। आप साक्षात दुर्गा हो जिसकी एक हुंकार इन अमानवीय कृत्यों के छक्के छुड़ा सकती है। बशर्ते आप संगठित होकर एक स्वर में आगे आकर उद्घोष करो। आपका शालीन, पर ठोस विरोध नाकाम नहीं जायेगा। आप कामयाबी हासिल करके ही रहोगी और देश व समाज के लिए आदरणीय बन जाओगी और तब कवि की ये पंक्तियां साक्षात सार्थक हो जायेगी **यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता।** ❑

संस्कार : परत-दर-परत

रणजीतसिंह कूमट

मन केंद्रित होने से व्यक्ति ध्यान की ओर बढ़ता है। ध्यान से समाधि प्राप्त होती है। परंतु प्राण की साधना और केंद्रित मन का उपयोग मन की शुद्धि के लिए करना है। मन पर बिछी परतों को साफ करना है। जब तक परत-दर-परत संस्कार साफ नहीं होते, मन शुद्ध नहीं हो सकता और उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि संस्कार क्या है और इसकी परतें कैसे बनती है?

शरीर अपनी इंद्रियों से शब्द, रूप, गंध, स्पर्श आदि प्राप्त करता है। इनको प्राप्त करने पर शरीर में संवेदना होती है। इस संवेदना को प्राप्त करने वाले मन के हिस्से को विज्ञान कहते हैं। इस संवेदना को प्राप्त करने के बाद उसे पहचानना संज्ञा कहलाता है। संज्ञा से यह पहचाना जाता है कि शब्द या रूप पहले देखा या सुना हुआ है या नया है? किसका शब्द है या किसका रूप है आदि। मन का तीसरा हिस्सा इस संवेदना का तोल-मोल करता है कि अच्छा है या बुरा, शब्द कर्कश है या मधुर, रूप सुंदर है या भयावह, गंध अच्छी है या बुरी आदि। मन के इस भाग को वेदना कहते हैं। यहां तक तो प्राप्त करना, पहचानना और तोल-मोल करने का कार्य हुआ, अब मन का चौथा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा-संस्कार यह तय करता है कि इस संवेदना के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो। अच्छी संवेदना है तो और प्राप्त की जाए और बुरी संवेदना हो तो दूर हटाई जाए । यह प्रतिक्रिया संस्कार का निर्माण या मन पर विभिन्न प्रकार के आग्रह तैयार करती है। इन आग्रह और संस्कारों से मन का संस्कारीकरण हो जाता है और यह व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाता है।

व्यक्ति की प्रतिदिन की क्रिया एवं प्रतिक्रिया इन संस्कारों से संचालित होती है। ये संस्कार जन्म या गर्भ से ही प्रारंभ हो जाते हैं। गर्भ में जब बालक आठ माह का हो जाता है तब से पहचानने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है और उससे ही संस्कार निर्माण होने लगते हैं, लेकिन अधिकांश संस्कार जन्म के बाद प्रथम पांच वर्षों में बनते हैं और बाद में भी बरकरार रहते हैं। बालक अपने वातावरण में जो भी सुनता और देखता है, सबको चुपचाप आत्मसात करता रहता है। हम समझते हैं कि एक साल से कम का बालक क्या समझता होगा? परंतु वास्तविकता यह है कि इतने छोटे बालक का मस्तिष्क एक कैमरे की तरह कार्य करता है जो चुपचाप सभी चित्रों का रेखांकन करता चला जाता है। मस्तिष्क इन चित्रों को वीडियो कैसेट की तरह स्मृति में संग्रहित कर लेता है और इनमें से जिन चित्रों पर बालक ने प्रतिक्रिया की है वे संस्कार के रूप में निर्मित हो जाते हैं।

बालक बहुत छोटा होते हुए भी प्रतिक्रिया करता है। मानो एक चोर घुस आए और बालक के सामने माता-पिता को मारे या उनके साथ बुरा व्यवहार करे तो बालक डर से जोर-जोर से चिल्लाता है और रो-रोकर प्रतिक्रिया जाहिर करता है। यदि यह घटना बहुत क्रूर है तो वैसी ही प्रतिक्रिया और संस्कार दिमाग पर बनेंगे और बालक के बड़े होने पर यदि वैसी ही घटना फिर घटे तो जो संस्कार और प्रतिक्रिया बचपन में हुई वह पुनः घटित होगी। बचपन की उस घटना से बालक विद्रोही बन सकता है या एकदम घुग्गू। उसका बोलना बंद हो सकता है या एकदम चुपचाप रह सकता है।

जिस प्रकार हिंसक घटना से संस्कार तीव्र रूप से अंकित हुआ, उसी प्रकार प्रिय घटनाओं के भी संस्कार बनते हैं। प्यार व दुलार के प्रिय संस्कार बनते हैं और जो बच्चे प्यार नहीं पाते हैं वे सबको अपना दुश्मन समझने लगते हैं।

बचपन से ही बनने वाले यह संस्कार कई प्रकार की कल्पनाएं, चेहरे और चित्र मन पर छोड़ जाते हैं और यह संस्कार भविष्य में ऐसी ही घटनायें होने पर क्या प्रतिक्रिया करें, इसके भी संकेत (Code) छोड़ देते हैं और तब मन बिना अधिक विश्लेषण किये पूर्वानुभव और पूर्वाग्रह के आधार पर तत्क्षण प्रतिक्रिया कर देता है। हर बार खुजलाहट के लिए चेतन मन हाथ को आज्ञा नहीं देता कि खुजलाहट मिटाए। यह आदत बन गई और स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो गई। इसी प्रकार सुरक्षा के लिए या अप्रिय घटना से बचने के लिए रिलैक्स-एक्शन स्वत: होता है। रिलैक्स काम्पलेक्स आदि शब्द संस्कार को ही प्रतिभासित करते हैं।

हर संवेदना की प्रतिक्रिया होती है और हर प्रतिक्रिया से संस्कार-निर्माण होता है। प्रतिक्रिया पुन: किसी प्रतिक्रिया को पैदा करती है और यह संस्कार-चक्र अनवरत रूप से चलता रहता है। जब तक संस्कार है, प्रतिक्रिया होगी और जब तक प्रतिक्रिया करेंगे, संस्कार बनेंगे।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि क्रिया और प्रतिक्रिया में फर्क है। क्रिया वह है जो जानकर की जाए और प्रतिक्रिया वह है जो अनजान में होती रहे। व्यक्ति जब सब बातों को जानकर निर्णय लेकर कोई कार्य करता है वह क्रिया है; लेकिन बिना जाने ही पूर्वाग्रह या पूर्व संस्कार से जो कार्य किया जाता है, वह प्रतिक्रिया है।

प्रश्न उभरता है कि मनुष्य कितना कार्य जानकर करता है और कितना अनजाने में करता है? मनोवैज्ञानिक बताते हैं कि 90 प्रतिशत से भी अधिक कार्य तो अनजाने या प्रतिक्रिया के रूप में होते हैं। बहुत कम कार्य जानकारी से होते हैं। इसलिए कई व्यक्ति कार्य कर चुकने के पश्चात् पछताते हैं कि ऐसा वे चाहते नहीं थे परंतु कर गये। क्रोध में पागल होकर प्रतिक्रिया कर दी और बाद में पछताए कि यह क्या किया। यह सब अंधी प्रतिक्रिया है। संस्कारजनित प्रतिक्रिया है। यदि कुछ क्षण के लिए रुक कर सोच लेते तो शायद वैसी प्रतिक्रिया न करते।

वास्तविकता यह है कि हम अपने चिंतन, संवेदना और प्रतिक्रिया के प्रति जागरूक नहीं हैं। हम अपने आपको नहीं जानते हैं और अधिकांश कार्य अनजाने में करते हैं, यद्यपि छाती ठोक कर कहते हैं कि यह कार्य मैंने किया जबकि कार्य करने वाले तो संस्कार थे और व्यक्ति केवल उपकरण। संस्कारमुक्त होकर कार्य कहां होता है? संस्कार का निर्माण भी हम करते हैं और उससे मुक्त होने का उपाय भी हमारे पास है।

जो भी क्रिया या प्रतिक्रिया हम करते हैं, संस्कार का निर्माण होता है परंतु वे संस्कार कितने स्थायी हैं और कितने काल तक रहेंगे, यह हमारे भाव और कषाय के प्रकार और उसकी तीव्रता पर निर्भर करता है। यदि किसी क्रिया के पीछे दया और करुणा की भावना है तो वह सुसंस्कार का निर्माण करता है। यदि इसके पीछे दुर्भावना है तो कुसंस्कार का निर्माण करती है। यदि कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) तीव्र है तो संस्कार तीव्र प्रकृति का होगा और मंद है तो मंद प्रकृति का होगा। यह संस्कार कितने काल तक रहेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि उस संस्कार को हमने कितनी बार पाला और पोसा है और उसे जीवित रखने की कोशिश की है।

एक व्यक्ति ने हमें कुछ अपशब्द कहे। कानों को कर्कश लगा और अपने दिमाग में अपने प्रति जो मूर्ति थी, उसे बड़ा धक्का लगा। इस मूर्ति से जितना अधिक चिपकाव होगा उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया होगी। समझदार व्यक्ति इस घटना के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करेगा और कोई संस्कार का निर्माण नहीं होगा। कम समझदार व्यक्ति प्रतिक्रिया करेगा और उसको वापस अपशब्द कहेगा। अब इस प्रतिक्रिया से पुन: प्रतिक्रिया होगी और शृंखला प्रारंभ होगी। अब पहला व्यक्ति क्या कहता

है और उससे फिर क्या धक्का लगता है और क्या प्रतिक्रिया होती है, यह सब कल्पना की बात है लेकिन स्पष्ट है कि यह एक अप्रिय घटना हादसा बन सकती है और केवल वाक्युद्ध होकर भी रह सकता है। जो भी हो, संस्कार निर्माण की काफी सामग्री मिल गई। अब यह वाद-विवाद क्या रूप लेगा, कितने दिन की दुश्मनी रहेगी, यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि दोनों पक्ष कितने दिन तक गुस्सा रखते हैं और कितनी बार उस गुस्से के आवेश में पुनः मिलने पर प्रतिक्रिया करते हैं या अपने ही अवचेतन मन में प्रतिक्रिया करते रहते हैं। वे घटना को आई-गई कह कर समाप्त कर देते हैं तो संज्वलन कषाय (पानी पर लकीर खींचने) की तरह संस्कार का निर्माण होकर समाप्त हो सकता है। अधिक समय चले तो बालू मिट्टी पर लकीर की तरह संस्कार का निर्माण होकर समाप्त हो सकता है। लेकिन संस्कार जब पत्थर की लकीर की तरह कायम होते हैं तो जन्म-जन्मांतर तक ये संस्कार कार्य करते हैं।

पत्थर की लकीर की तरह संस्कार तब बनते हैं जब हम घटना की प्रतिक्रिया मन ही मन दोहराते हैं, उस पर चिंतन करते हैं और संकल्पों को दृढ़ करते रहते हैं। इससे पूर्वाग्रह का निर्माण होता है और जब दूसरा व्यक्ति वापस सामने आता है तो निमित्त पाते ही प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जाती है या कभी-कभी संस्कार इतने तीव्र होते हैं कि निमित्त का भी इंतजार नहीं करते और प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

गजसुकुमाल मुनि का उदाहरण लें। कथानुसार गजसुकुमाल कृष्ण के छोटे भाई थे। एक दिन कृष्ण राजमार्ग पर जा रहे थे। उन्होंने एक सुंदर बालिका को देखा। निर्णय किया कि उसकी शादी गजसुकुमाल से की जाये। बालिका के पिता सोमिल ब्राह्मण को बुलाकर अपना निश्चय बता दिया। सोमिल के लिए अहोभाग्य था। परंतु दूसरे ही दिन गजसुकुमाल भगवान अरिष्टनेमि तीर्थंकर के दर्शन को गये और उन्हें वहीं वैराग्य हो गया। उन्होंने उसी दिन दीक्षा ले ली और दीक्षा लेकर श्मशान में तप करने चले गये। जब वे श्मशान में ध्यान लीन थे, सोमिल ब्राह्मण उधर से निकला और वह अपने होने वाले दामाद को तपस्वी वेश में देखकर आग-बबूला हो गया। उसकी लड़की का विवाह राजघराने में होने वाला था और उसी व्यक्ति ने वचनभंग कर दिया। उसने अपने क्रोध की सब सीमा लांघ कर ध्यानस्थ गजसुकुमाल के सिर पर गीली मिट्टी की पाल बनायी तथा बीच में जलते हुए अंगारे रख दिये। सोमिल अंगारे रखकर तत्काल भाग गया। गजसुकुमाल ने इसकी कोई प्रतिक्रिया न की, सारे दुःख को शरीर का दुःख मानकर वे ध्यानावस्था में बैठे रहे और वेदना को समता भाव से सहन करते रहे। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। यहां सोमिल ब्राह्मण की कार्यवाही पर विशेष नजर डालें। उसने प्रतिक्रिया कितनी तीव्र की, क्या कोई अपने होने वाले दामाद को वचनभंग के लिए बिना पूछे और अन्य समाधान किये बिना ही इतनी तीव्र वेदना और सजा दे सकता है? वह अवश्य अपने पूर्व संस्कारों से ग्रसित था और उसके वशीभूत होकर उसने यह क्रिया की।

इस क्रिया से एक ओर भय का संस्कार उसमें बना। उसने द्वारिका के राजा कृष्ण के भाई को मारा है, वह बच कैसे जायेगा, अतः वह जल्दी-जल्दी द्वारिका से भागने लगा परंतु रास्ते में ही कृष्ण की सवारी को आते देख लिया। कृष्ण को देखते ही भय के संस्कारों ने ऐसा कार्य किया कि वह सड़क पर गिरकर वहीं मर गया। यह है संस्कारजनित क्रिया एवं प्रतिक्रिया।

संस्कारों की परतें बनती रहती हैं और हम उनमें बंधकर प्रतिक्रिया करते रहते हैं और नये संस्कार बनाते जाते हैं। संस्कार बनाते ही नहीं, उनको पाल-पोस कर अधिक सुदृढ़ भी बनाते हैं। जितने ये संस्कार सुदृढ़ होते हैं उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया करते हैं। यह परतें हमें बांधे रखती हैं और हम अपने आपको विवश महसूस करते हैं। परंतु इन संस्कारों से मुक्ति पाना हमारे हाथ में है, और संस्कार-मुक्ति ही जीवन्मुक्ति है। ❑

प्रकृति के बीच चार घंटे

राधेश्याम अटल

सूरज के घोड़े दौड़ने लगे थे। मैंने भी उतार फेंकी थी अपने शरीर से चिपटी शीत की झुरझुरी परत। आकाश नितांत स्वच्छ और नितांत स्तब्ध, लेकिन मन उद्विग्न था। सूर्योदय के साथ ही जंगल में स्वच्छंद विहार के विचार जन्म ले चुके थे और अब धैर्य को ध्वस्त कर पछाड़ें खा रहा था। इच्छाओं का हठ, जब चरमसीमा पर पहुंच जाता है, तब मनुष्य पराधीन की भांति कुशल सेवक की तरह आचरण करने लगता है। मैंने भी अपना झोला कंधे से लटकाया और चल पड़ा जंगल की ओर ऊर्ध्वमुख होकर।

जंगल की सीमा में प्रवेश करते ही मेरे पांव ठिठके। मुझे लगा, जैसे मुझे देखकर वृक्ष परस्पर कानाफूसी करने लगे हैं। पत्ते हिलकर जीवंत होने का प्रमाण अवश्य दे रहे थे, लेकिन ठीक ऐसे जैसे कर्फ्यू में बंद मकानों से बच्चों का रोना सुनाई देता है। पैरों के नीचे की घास चरमराते जा रहा हूं। जैसे-जैसे मैं जंगल की गहराई में उतरता जा रहा था, पक्षियों का कलरव उतना ही अधिक घना होता जा रहा था। पक्षियों की आवाज स्पष्टतः मेरे विरुद्ध एक शोर था, जैसे किसी बस्ती में बंदूक दनदनाता कोई बदमाश घुस आया हो और बस्ती वाले चीख-चीख कर सबको आत्मरक्षा के लिए सजग कर रहे हों। वृक्ष नितांत मौन थे। कुछ हरे-भरे थे, कुछ कबंध आकृति को प्राप्त थे, तो कुछ पुनः जीवन धारण करने का हठ छोड़ नहीं रहे थे।

मेरे स्वच्छंद विहार के विचार सिर पर पांव रखकर न जाने कब-कहां नौ-दो ग्यारह हो चुके थे। मस्तिष्क की कोई ऐसी खिड़की खुल गई थी जिसमें से अनेक विचार निकल-निकल कर बाहर आने लगे। मेरे ही विचार मुझे ही नोंचने लगे। मुझसे ही प्रश्न पूछने लगे–ओ? मानव! क्या तुम जानते हो, यह जंगल भी तुमसे भयभीत क्यों होने लगा? तुम्हें देखकर चीख क्यों रहा है? अपने कानों के पर्दे साफ कर सुनो मतिमंद मानव! ये पक्षी और मौन वृक्ष तुम्हें आततायी कह रहे हैं। आंखें मलकर साफ करो और देखो सामने, सुनो थोड़ा हृदय से कि इन पहाड़ों को कराहने के लिए आखिर किसने विवश किया है? मेरा बाहर का 'मैं' मेरे अंदर के 'मैं' पर प्रश्नों की बौछार कर रहा था और अंत में 'बाह्य' मैं को निरुत्तर मौन देखकर 'अंतः मैं' शांत हो गया।

मैं एक अपराधी की भांति जंगल में दिशाहीन होकर अपने समस्त अपराधों को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ने लगा। मुझे एहसास हो रहा था, जैसे मेरे हाथ अपने पिता के खून से सने हुए हैं, लेकिन मुझे विश्वास था कि इन सब अपराधों के लिए मैं अकेला जिम्मेदार नहीं हूं।

सहसा मेरे विचरण-पथ में एक मृग-युगल मिला। उस युगल ने मुझे देखा और मैंने भी उसे 'जी' भर कर देखा। एक बार तो लगा कि मुझे देखकर युवा मृग-

युगल अब दौड़ा–अब भरी कुलाचें, लेकिन मृग का विश्वास हिल गया शायद! उसने भी मुझे एक हत्यारे की निगाह से देखा और यह सोच कर कि 'मैं तो अपनी तीव्र गति से ओझल हो लूंगा, किंतु यह नहीं बच पाएगी।' अपनी सहधर्मिणी को छोड़कर वह भी नहीं भागा। दोनों परस्पर स्नेहपूर्ण चक्षुओं से निहार रहे थे और अपने अटूट प्रेम का प्रमाण शायद मुझे दे रहे थे। कुछ पल उपरांत दोनों की निगाहें धरती की ओर थीं, शायद मुझे हत्यारा समझ कर उन्होंने मेरे समक्ष आत्मसमर्पण करना ही उचित समझा।

उसी पल एक टिटहरी टीं-टीं करती हुई मेरे सिर के ऊपर मंडराने लगी। मुझे लगा जैसे वह मुझे कोस रही थी, थूक रही थी मेरे ऊपर और मृग-युगल को धिक्कार रही थी–अरे मूर्ख मृग! तू सोचता है, तेरी सुंदरता पर यह क्रूर मानव रीझ जाएगा और अभय कर देगा तुझे। या तेरे युगल प्रेम से इसका हत्यारा हृदय पसीज जाएगा। भूल मत करो मृग! आत्म रक्षा का अस्त्र समर्पण नहीं है। आत्म रक्षा के लिए जो कुछ किया जा सके, सब करना चाहिए। आत्म समर्पण निर्बलता है कोरी।' अचानक वह मृग-युगल कुलाचें भरते हुए दौड़ गया।

मैं विपथगामी होकर आगे बढ़ रहा था और महसूस कर रहा था जैसे यह संपूर्ण जंगल मेरी उपस्थिति से भयाक्रांत हो रहा है। मैं विचारों में उलझा हुआ थोड़ा ही आगे बढ़ा था कि एक झरना दिखाई दिया। पानी को देखकर मेरी प्यास भी मुझे झरने के करीब शीघ्र ले जाने को विवश हो उठी। मैं झरने के चंचल प्रवाह और उसकी अठखेलियों से विमुग्ध होकर हकीकत में अपनी प्यास को भूल गया। झरने को देखकर मुझे लगा जैसे कोई शिशु अपने पिता की गोद से उतरकर अपनी मां के वक्ष पर खेल रहा हो। झरने के कलरव से मुझे अपने पौत्र की तुतलाती जुबान में उसका गीत गाना स्मरण आने लगा। मैंने सिर उठा कर देखा–कई स्रोत-शिशु इसी भांति अपने पिता के आंगन में क्रीड़ा कर रहे थे।

मुझे स्मरण आया कि मैं प्यासा हूं। मैंने अंजली बनाकर पानी पीना प्रारंभ किया ही था कि मैंने देखा कि एक भालू भी उसी जल-स्रोत में कुछ ऊपर की ओर से पानी पीने आ रहा था। मैंने इतने करीब से इससे पूर्व कभी मुक्त भालू नहीं देखा था। मैं जानता था कि बिना छेड़खानी किए भालू आदमी पर आक्रमण नहीं करता है। फिर भी, मैंने एक चट्टान की ओट ले ली और मन-ही-मन में अपने इष्ट का स्मरण करने लगा। वैसे, हृदयगति सामान्य थी, फिर संकट में तो हरि का स्मरण कर ही लेना चाहिए।

मैंने थोड़ा झुककर देखा, भालू की श्वास उखड़ रही थी, जैसे यक्ष्मा हो रहा हो। एक पैर से लंगड़ा कर भी चल रहा था। मैंने गौर से देखा, शायद उसके पुट्ठे पर गोली मारी थी किसी ने। वह झरने में उतर गया। पहले पानी पीया और फिर पसर गया उसी पानी में। झरने का रंग देखते ही देखते लाल हो गया। मैं समझ रहा था और सोच रहा था मन-ही-मन कि आज का मानव यदि इसी ओर अग्रसर होता रहा तो निस्संदेह इन जंगलों से अधिक भयानक जंगल हर आदमी के अंदर उग आएगा। तब आदमी आदमी नहीं रहेगा। वह दैत्य कहलाएगा, नरभक्षी होगा और इस सुविकसित सभ्यता और संस्कृति को राक्षस संस्कृति कहा जाएगा।

मेरा 'अंतः मैं' फिर 'बाह्य' से उलझ पड़ा। कोसने लगा मेरे बाह्य 'मैं' को कि इस क्रूरता का जन्म तेरे ही कारण हुआ है। मन तेरा मित्र है, जो बुद्धि को बहका कर क्रूर और हिंसक लीला के अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करवाता है और उनका दुरुपयोग निरपराध प्राणियों के प्राण हरण में करता है। मैं खीझ रहा था अपने ही ऊपर, मानव की करतूतों पर कि मानव के क्रूर कृत्यों से जब प्रकृति भी इतनी प्रभावित है, तब फिर निर्बल, असहाय और विवश हो अभिशप्त जीवन जीने वाले निरीह मानव के मन की पीड़ा कितनी गहरी होगी।

क्या आदमी से आदमी को बचाया जा सकेगा? यदि हां, तो प्रत्येक मानव को प्रकृति के प्रेम, आचरण, संतुलन और परोपकार की भावना से शिक्षा लेनी होगी, साथ ही प्रकृति की सुरक्षा को भी अपना

कर्तव्य समझना होगा। अपने बाह्य 'मैं' को अंतः 'मैं' से एकाकार करना होगा। प्रकृति और पुरुष एक दूसरे के संपूरक हैं। दोनों ही के योग से सृजन की प्रक्रिया होती है, किंतु ध्यान रहे कि सृजन कल्याणकारी हो। विध्वंसकारी सृजन प्रकृति और पुरुष दोनों को ही पाषाण युग में धकेल सकता है। इन्हीं विचारों से उलझा हुआ मैं इस जंगल से एक और भीषण जंगल की ओर लौट रहा था। मैं थका नहीं था, किंतु व्यथित था। मुझे लौटता हुआ देखकर वृक्ष कुछ आश्वस्त होने लगे थे, पक्षी भी मुझे विदा करते हुए परस्पर वार्ता कर रहे थे कि यह आदमी आया तो न जाने क्या सोच कर होगा, किंतु यहां से लौट रहा है कुछ उदास होकर। अंत में मुझे सोन चिड़ी ने राम राम कहा और पुनः आने का आमंत्रण देते हुए कहने लगी–'आप फिर कभी आएंगे तो हम आपको बहुत मीठे-मीठे गीत सुनाएंगी। लेकिन हां, हमारी व्यथा अपने भाइयों को जरूर कहना कि वे बाज आएं अपनी आदतों से।

मैं बहुत अंदर तक चला गया था इस जंगल में। लौटते वक्त मैंने देखा, ढाक अपने सिर पर आग लगाए हुए थे, जैसे कोई हठयोगी पंचाग्नि तप कर रहा हो। लेकिन नहीं, ढाक मुझे आवाज दे रहे थे। चीख-चीख कर कह रहे थे–'अरे, बुजदिल इनसान! अगर दुनिया में जीना है तो जीना सीख। इस तरह मुंह लटकाने से समस्याओं का अंत नहीं होगा। मेरी तरह प्रज्वलित कर अपने अंदर की आग। भस्म कर दे अपनी अग्नि से इस दुनिया के अत्याचार, अनाचार, अन्याय और शोषण के दानवों को। मोह मत कर अपनी जिंदगी का, वक्त बहुत कम है। जो शेष है, उसे भी व्यतीत होते देर नहीं लगेगी। इसलिए राख की ढेरी बनने से पहले भभक कर जल उठ, और दूर कर दे धुएं से घिरी हुई बस्तियों का अंतः अंधकार।'

मुझे लगा, मैं बहुत बौना हूं इस प्रकृति के बीच। एक ओर अमलतास कह रहा था–'मुझे देख ओ मायावी मानव! यदि अपनी आत्मा का शृंगार करना चाहता है तो त्याग दे मेरी तरह मायावी आवरण। निर्लिप्त, निर्विकार होकर चिंतन कर उस ईश्वर का, फिर देखना, मेरी तरह बहेगा तेरे अंदर भी आनंद का स्रोत, और जैसे मैं लदा-फदा हूं फूलों से, तेरी आत्मा का भी शृंगार उस दिन वह निराकार ब्रह्म स्वयं अपने हाथों से करेगा।'

अब पीछे छूटने लगा था जंगल, लेकिन मन भटक रहा था उसी जंगल में। अचानक मेरे पीछे एक झाड़ी के झुरमुट से एक खरगोश-शावक प्रकट हुआ। मुझे लगा, जैसे जंगल की सीमा तक वह मुझे विदा करने आया है और कहने आया है मुझसे कि जंगल के भी अपने कोई शिष्टाचार होते हैं। क्या हुआ यदि हम इनसान नहीं हैं। एक बार मुड़कर और देखो मानव कि परस्पर बांह थामे हुए ये वृक्ष निर्बल को अपने कंधों का सहारा देकर किस तरह प्रेममय जीवन जी रहे हैं। ❑

मैं जानता हूं, मेरे पास न रेडियो है, न अखबार और न आज के प्रचार योग्य वैज्ञानिक साधन ही और न मैं इन सबका उपयोग ही कर सकता हूं। लेकिन मेरी वाणी में आत्मबल है, आत्मा की तीव्र शक्ति है। मुझे अपने संदेश के प्रति गहरा आत्मविश्वास है। फिर कोई कारण नहीं कि मेरी यह आवाज जनता के कानों से नहीं टकराए।

अच्छे दिन आते इस तरह के टैक्स लगाने से

छत्रसिंह बच्छावत (चाड़वास)

लीजिए जनाब, भारत में नई सरकार का रेल तथा आम बजट आ गया। सरकार ढाढ़स बंधा रही थी कि अच्छे दिनों के लिए कड़वी दवा तो पीनी ही पड़ेगी।

बजट से पहले सरकार ने रेल भाड़े में बढ़ोतरी की व बजट में कई नए टैक्स लगाये परंतु जल कर, संपत्ति कर की तरह 'वायु कर' भी लगा देती तो घाटे के बजट में अधिकांश पूर्ति हो सकती थी। जो व्यक्ति साल भर में जितनी सार्वजनिक हवा का उपयोग करे, उसी हिसाब से 'कर' भी जमा हो। मोटे आदमी को कुछ टैक्स अधिक भरना पड़ता, कारण मोटे आदमी ज्यादा हवा खींचते हैं। कायोत्सर्ग, श्वासप्रेक्षा और प्रेक्षाध्यान करने और कराने वालों को सिर्फ 'कर' छूट रहती।

'दंगा-टैक्स' लगाना सरकार भूल गई। जहां दंगा होगा वहां शासन टैक्स वसूलेगा। फलतः अच्छे दिनों हेतु विकास कार्यों के लिए खजाना भर जाता। लड़ेंगे तो टैक्स देना होगा। यदि भाई-चारा बढ़ा तो सरकार की वाह-वाही होती कि देखो कितना अच्छा हल निकाला है समस्या का। चित भी सरकार की और पट भी उसी की।

सरकार यह भूल कर गई कि पढ़ाई-लिखाई नहीं करने वाले छात्रों के अभिभावकों पर भी टैक्स लगाया जा सकता था। या तो बच्चों को घर पर या ट्यूशन पढ़ाकर टैक्स से बचो अन्यथा छात्रों के फेल होने पर टैक्स देकर सरकार का राजस्व बढ़ावो। इससे शिक्षा का स्तर और ऊंचा उठता।

'जनसंख्या टैक्स' तो लगाना बड़ा आवश्यक था। जिस इलाके में सघन आबादी हो वहां यह टैक्स लाजिमी था। जनसंख्या वृद्धि दर एकदम घट जाती।

हमारे देश में त्याग का इतिहास रहा है। त्याग ने ऋषि दधीचि को जहां अमर बनाया वहीं राजकुमार सिद्धार्थ को गौतम बुद्ध और राजा वर्धमान को तीर्थंकर महावीर बना दिया। क्या हुआ जो बजट में आलू, प्याज, चीनी और पेट्रोल के भाव कम नहीं हुए? इन पदार्थों का अधिक से अधिक त्याग करना चाहिए। आंखों में आंसू लाने वाले प्याज के आतंक से बचने का एकमात्र उपाय है—प्याजमुक्त किचन। जिस देश की आजादी के लिए वीरों ने अपना सर्वस्व त्याग कर दिया था, क्या उस देश के लिए हम आलू-प्याज का जरा भी त्याग नहीं कर सकते? जैन धर्म में तो आलू-प्याज जमीकंद होने के कारण इन दोनों के सेवन करने का निषेध बताया गया है। त्याग के इतिहास की गरिमा बताते हुए सरकार उपरोक्त पदार्थों के त्याग की महत्ता बजट में बताती।

सरकार चाहे किसी की भी हो, वह अपनी प्रिय जनता की सेहत का पूरा ध्यान रखकर बजट बनाती है

परंतु जनता है कि व्यर्थ में महंगाई पर हायतौबा मचाती है। शक्कर के दाम इसलिए बढ़ाये जाते हैं कि जनता की डायबिटीज कंट्रोल में रहे। पेट्रोल-डीजल के दाम भी स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर बढ़ाये जाते हैं कि जनता वाकिंग ज्यादा करे। सरकार की तो दाद देनी चाहिए कि वह रसोई गैस का दाम बढ़ाकर पब्लिक की 'डाइटिंग' करवा रही है।

विशेष स्थानों व आयोजनों में यदि सरकार 'सांस लेने पर' टैक्स लगाती तो जल्दी ही 'अच्छे दिनों' की शुरुआत हो जाती। दूसरे देश यह फायदा उठा रहे हैं। लेकिन अमेरिका का वेनेजुएला पहला देश है जहां ओजोन की मदद से हवाई अड्डे की इमारत के भीतर हवा को शुद्ध करने के कारण हर यात्री को टैक्स के रूप में 127 बोलीवर (करीब 1200 रुपये) देने पड़ रहे हैं, इस तरह जुलाई, 2004 से सांस लेने पर वहां टैक्स चालू हो गया। भारत में तो आसानी से इस तरह के सांस पर टैक्स लगाकर आय बढ़ाई जा सकती थी।

ये सब नादिरशाही टैक्स नहीं है। इस तरह के करों से यदि विरोधी लोग सरकार को घेरने की धमकी देते तो 'आंदोलन कर' या 'प्रदर्शन कर' लगाने पर सोचा जा सकता था, ताकि सरकारी बजट में चार चांद लग जाते और अच्छे दिनों की शुरुआत हो जाती। ❑

मन का अंधेरा : व्रत का दीप

गृहस्वामिनी कहीं बाहर जा रही थी। अपराह्न का समय था। उसने अपने सेवक को निर्देश दिया–'मैं आवश्यक कार्य हेतु बाहर जा रही हूं। मकान की निगरानी तुम्हें रखनी है। ध्यान रहे मकान में अंधेरा न घुस जाए।' गृहस्वामिनी चली गयी। सेवक अपनी स्वामिनी के आदेश कि क्रियान्विति पर विचार करने लगा। उसने सोचा–घर में मैं अकेला आदमी हूं। अंधकार का मुकाबला कैसे कर सकूंगा? अच्छा हो घर बंद कर ताला लगाकर बाहर चला जाऊं। पीछे से अंधकार आयेगा भी तो घर बंद देखकर लौट जायेगा।

सेवक ने बड़ी सावधानी से घर का हर द्वार और खिड़की बंद कर दी। मुख्यद्वार बंद कर बाहर से ताला लगा दिया और स्वयं निश्चिंत होकर बाजार चला गया। लौटकर आया तो देखा–गृहस्वामिनी भी उसी समय पहुंच रही है। वह बड़ी तत्परता से ताला खोलकर भीतर गया। वहां उसे कुछ भी दिखाई नहीं दिया। घर में अंधकार पूरा अधिकार कर चुका था। वह चिंतातुर हो वहीं बैठ गया। स्वामिनी घर में प्रविष्ट होते ही बोली–'तुमने मेरे आदेश का पालन नहीं किया।' सेवक गिड़गिड़ाता हुआ बोला–'अम्मा! मैं यही सोच रहा हूं पर मुझे पता नहीं चला कि अंधकार घर में घुसा कैसे? मकान की चाबी तो मेरे पास थी।'

स्वामिनी अपने सेवक की नासमझी पर मुसकराती हुई कहने लगी–'जो कुछ हुआ वह तो हो गया। अब तुम इसे बाहर निकालो।' सेवक डंडा लेकर अंधकार को मारने दौड़ा। मारते-मारते उसके हाथ छिल गये, पर अंधकार वहां जमा रहा। आखिर स्वामिनी ने कहा–'दीप जलाओ, अंधकार स्वयं डरकर भाग जायेगा।' सेवक ने वैसा ही किया। पूरा घर प्रकाश से भर गया।

एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो

मुनि मलयज

क्यों उलझे हो
रेत के इन विशाल टीलों में
जहां जल का होना
असंभव लगता है
मिलती है तो बस सूखी रेत
जिसे तुम थामे रहना चाहते हो,
इस मानसिक भ्रम में
क्यों खोते हो स्वयं को,
इससे बाहर निकलो
और वास्तविकता को जानो
समन्दर के पास आकर देखो
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

समुद्र की गहराई में
भरे पड़े है ऐसे सीप
जो हर बूंद का
कर सकते हैं रूपान्तरण
एक चमकीले मोती में
जल के भीतर
उन सीपों को खोजने का
प्रयत्न करके देखो
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

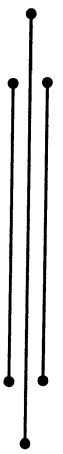

असीम गहराई में
स्वयं न जा पाओ तो
कोई बात नहीं,
निराश न होना
कोशिश जारी रखो
तुम अकेले नहीं
साथ वालों से प्रेरणा लो
सीखते रहो, तैरते रहो
शुरुआत में
मन का भय निकालकर देखो
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

डूबने की
आशंका से
भयभीत हो
मंजिल पाने वालों पर
गौर करो, महसूस करो
उनकी हर चाल को
हर कला को
तकनीक, सांस, स्पंदन को
ऐसा ना कर पाओ तो
कम से कम
विचलित व्यक्ति को
तिनका ही पकड़ा दो
कारण.....?
डूबते को तिनके का सहारा होता है
ऐसा ही
एक और तिनका
स्वयं आजमाकर देखो
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

समन्दर की लहरें शांत हैं
और तभी तुम देखते हो
एक चींटी तैरना चाह रही है,
तड़प रही है, छटपटा रही है
तुमसे सहायता मांग रही है,

और तुम
सिर्फ एक तिनका फेंककर
इंतजार करते हो
कि कब वह स्वयं
उस पर चढ़ेगी,
सहायता की
सुखानुभूति के लिए
स्व-अवस्थित मत रहो,
सहयोग की दिशा में
कदम बढ़ाकर देखो,
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

यदि ध्यान दो तो पाओगे
कि तुम खुद भी
उस जलस्रोत के प्रवाह में
संघर्ष कर रहे हो
तुम मरना नहीं,
जीना चाहते हो
इसलिए
तैरना सीख लो और
तटस्थभाव से
केवल देखते जाओ,
तुम्हारा वह तिनका
लौटकर तुम्हारे पास
अवश्य आएगा,
उसकी प्रतीक्षा में
अपनी दृष्टि टिकाकर देखो,
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

प्रकृति का
महान उपहार होगा
समन्दर का
वह सीप, वह गुरु
जिसमें चींटी की
कृतज्ञता अनुप्राणित है
वह गुरु तुम्हें तैरना सिखाएगा,
तुम्हारे हाथों को शक्ति देगा
कि तुम हर व्यक्ति को
अपने कंधों पर उठाकर
अपनी और उसकी
नाव को भी पार लगा सको
उस गुरु पर भरोसा करके देखो,
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

अध्यात्म की शक्ति को
उस गुरु से प्राप्त करने पर
तुम्हारे लिए
समन्दर के जलकण
और टीलों की रेत
दोनों ही एक समान होंगे
तुम जान जाओगे
कि उन दोनों के ही
सूक्ष्म कण तुम्हारे हाथों में
अस्थिर हैं वे कण
रिसते जा रहे हैं अनवरत,
लगातार फिसलते जा रहे हैं
बहते जा रहे हैं
अतः अपने चिंतन की
स्वकेन्द्रित संकीर्णता का,
अपने आप का
विस्तार करके देखो
एक तिनका समन्दर में
तुम भी डालकर देखो।।

भीतर का अंधकार मिटे

हीरालाल छाजेड़

दीपावली पर दीपक जलाते वक्त दीपक के सच को समझना आवश्यक है, अन्यथा दीपावली की प्रकाशपूर्ण रात्रि के पश्चात केवल बुझे हुए मिट्टी के दीपक हाथों में रह जायेंगे। आकाशीय अमृत आलोक खो जाएगा। दीपक का सच उसके स्वरूप में है। केवल माटी का दीप मिट्टी में समा जाता है। मोल बुझे हुए दीपक का नहीं होता, मोल है जलते हुए प्रदीप्त दीपक का। दीपक का तात्पर्य है–अपनी वर्तिका में अग्नि को धारण कर प्रकाश बिखेरना। दीपक की भांति मनुष्य की देह भी मिट्टी की है, किंतु उसकी आत्मा मिट्टी की नहीं है। वह तो इस मिट्टी के दीपक में जलने वाली घृत ज्योति है। हालांकि मनुष्य लोभ, मोह, अहंकार की मोटी परत से दबा-ढका अपने स्वरूप को भूल बैठा है, स्वयं को मात्र मिट्टी की देह समझ बैठा है। इस देह का शृंगार करने में इतना मशगूल हो गया है कि आत्म ज्योति का चिरंतन सच कहीं खो दिया है। इसलिए आज तमस की इस सघनता में सबसे पहले आलोकित संवेदनशीलता का उदय जरूरी है।

पौराणिक काल की पशुता आज भी जीवित है। बढ़ा है तो केवल उसका स्वरूप–रावण, कंस, दुर्योधन की भूमिका में आज महाभ्रष्टाचारी, रिश्वतखोर, आतंकवादी, चरित्रहीन व्यक्ति क्रियाशील हैं। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं समग्र विश्व आतंकवाद के आतंक से त्रस्त है। इस अमानवीय कृत्य को करने वाले स्वयं मानसिक अवसाद, कुंठा एवं तनावजन्य विकारों से घिरे हुए रहते हैं। जीवन एवं समाज के इस अवसाद और अंधेरे को दूर करने के लिए दीपक के सच की अनुभूति का गहरा अनुभव आवश्यक है। जब तक मन में दीपक का प्रेम, करुणा, दया, सेवा, सहयोग एवं परोपकारिता वाला प्रकाश जगमगाएगा नहीं, मानवता के इस काले एवं अंध-तमस को दूर नहीं किया जा सकता है।

दीपावली में टिमटिमाते अगणित दीपकों के संकल्प में ही दीपोत्सव का मर्म छिपा है। दीपक जलते हैं अपना सर्वस्व जलाकर, दीपक जलते हैं अपने प्राणों को बिखेरकर–कभी मंद नहीं पड़ती इनकी आशा और उमंग। काश! हम भी इस पर्व पर दीपक से मार्गदर्शन प्राप्त कर भीतर के अंधकार-तम को मिटाकर भौतिक पर्व के साथ-साथ आध्यात्मिक अंतर चेतना की लौ को प्रज्वलित कर पायें, तभी सार्थक होगा यह आलोकित पर्व।

पौराणिक मान्यता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम लंका विजय कर इसी दिन अयोध्या वापस पधारे थे। उनके आगमन पर अयोध्यावासियों ने रात्रि में दीपोत्सव द्वारा हर्ष प्रकट किया था। जैन तीर्थंकर भगवान महावीर ने इसी रात्रि को निर्वाण प्राप्त कर अपने ज्योतिर्मय सिद्धत्व को प्राप्त किया था। इस पर्व के साथ स्वामी दयानंद एवं स्वामी रामतीर्थ का भी नाम जुड़ा हुआ है। अनेकानेक महान आत्माओं के व्यक्तित्व और कृर्तत्व से आलोकित यह पर्व समस्त भारत में बहुत ही श्रद्धा व प्रेम के साथ मनाया जाता है। यह एकता का प्रतीक और स्वयं के भीतर का अंधकार मिटाने का साधक-पर्व है। ❑

विनोद बैद, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

VAB VENTURES

Leadership with Trust...

VAB Ventures Ltd.

60 B Chowringhee Road, Suite : 3/2/1, 3rd Floor
KOLKATA 700020, West Bengal, India
Tel. : (+91) 3322900112-114 | Fax : (+91) 3322900115
E-mail : arihantbaid@vabventures.in, www.vabventures.in

Sugar ◆ Pharmaceuticals ◆ Biotech ◆ Real Estate ◆ Financial Services ◆ Education ◆ Infotech

जैन भारती, अक्टूबर, 2014 ■ प्रेषण दिनांक 28 सितम्बर, 2014
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन

बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन

बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन

बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।